विजय-पुस्तक माला लाहौर २

मनोविज्ञान ।

Psychology.

लेखक—

प्रोफ़ैसर सुधाकर एम. ए.

प्रकाशक—

इण्डियन प्रिन्टिङ्ग वर्क्स, ग्वालमण्डी,
लाहौर ।

मार्गशीर्ष वि० १९८१.

दिसम्बर १९२४

थमा वृत्ति]

[मूल्य २)

विना जिल्द का मूल्य १॥)

विषय सूची

निवेदन

मनोविज्ञान का अध्ययन कितना सरल तथा उपयोगी है इस का अन्दाज़ा केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि आज सभ्य संसार की पाठ प्रणाली में इस विषय को अन्य सब विषयों की अपेक्षा ऊंचा स्थान दिया गया है। बच्चों की शिक्षा मनोविज्ञान की शिक्षा के बिना अधूरी मानी जाने लगी है। इसके लाभ विस्तार पूर्वक पुस्तक के आरम्भ में दर्शाये गये हैं।

लेखक को इस बात का गौरव है कि उस ने लग भग आठ वर्ष तक इस विषय का अध्यापन गुरुकुल विश्व विद्यालय (हरिद्वार) में किया है। यह पुस्तक वहीं पर आज से ५वर्ष पहिले लिखी गयी थी। आलस्य और संकोच के कारण इस का मुद्रण उससे पहिले नहीं हो सका। यह जानते हुए भी कि इस पुस्तक में भाषा और भाव सम्बन्धी दोनों प्रकार की त्रुटियां हैं, मेरे हिन्दी-भाषा के प्रति प्रेम तथा मित्रों की प्रेरणा ने मुझे बाधित किया है कि इस पुस्तक को यथा तथा अपने पाठकों और पाठिकाओं के सन्मुख रखूं। सम्भव है कि यह धृष्टता दोष रहित तथा सर्वांग पूर्ण पुस्तकों के लिये मार्ग प्रदर्शन का काम दे।

इस से पूर्व केवल एकाध पुस्तक ही इस विषय पर लिखी गयी है। हिन्दी संसार के लिये यह नया विषय होने के कारण इस के सम्बन्ध में जितनी चर्चा की जाये कम है। यहां पर यह भी प्रकट कर देना उचित होगा कि यह पुस्तक किसी अन्य भाषा की किसी पुस्तक का अनुवाद मात्र ही नहीं है। यह कई पुस्तकों का निचोड़ है। यद्यपि विचार-क्रम अधिकांश ब्यूल (Buell) की "मनोविज्ञान के मूल सिद्धान्त" नामी पुस्तक के अनुसार रखा गया है। लेखक ने इस बात का भी प्रयत्न किया है कि इस शास्त्र का विवेचन एक स्वतन्त्र विज्ञान की दृष्टि से किया जावे और उस में यथा सम्भव दर्शन के विवादास्पद बातों को न लाया जावे। यह इस लिये कि 'मनोविज्ञान' को अधिक अनुभव-गम्य बनाने से साधारण पाठकों को बहुत लाभ पहुंच सकता है।

मनोविज्ञान के अध्ययन का पूर्ण लाभ तभी उठाया जा सकता है जब कि इस के आधार पर एक जाति के बच्चों का शिक्षण किया जावे। शिक्षा के मूल सिद्धान्त इसी विषय के अध्ययन से अवगत होते हैं। इस बात को सन्मुख रखते हुए लेखक ने "बाल-शिक्षण" नामी पुस्तक तय्यार की है। उस में मनोवैज्ञानिक रीति से बच्चों के शिक्षण का विचार किया गया है, जिस में माता पिता तथा अध्यापकों को बाल-शिक्षण में बड़ी सहायता मिल सकती है।

अन्त में मैं उन सब पाश्चात्य लेखकों तथा विचारकों का आभारी हूं जिन के विचाराधार पर मैं ने यह पुस्तक लिखी है। साथ ही मैं उस निरन्तर प्रोत्साहन तथा प्रेरणा को भी भुला नहीं सकता जो मुझे इस पुस्तक के लिखने तथा संपूर्ण रूप में प्रकाशित करने में अपनी निकट वर्ती परिस्थिति से मिली है। मुझे आशा है कि मेरे इस प्रयत्न को हिन्दी भाषा के प्रेमी स्वीकार करेंगे।

सुधाकर

मनोविज्ञान



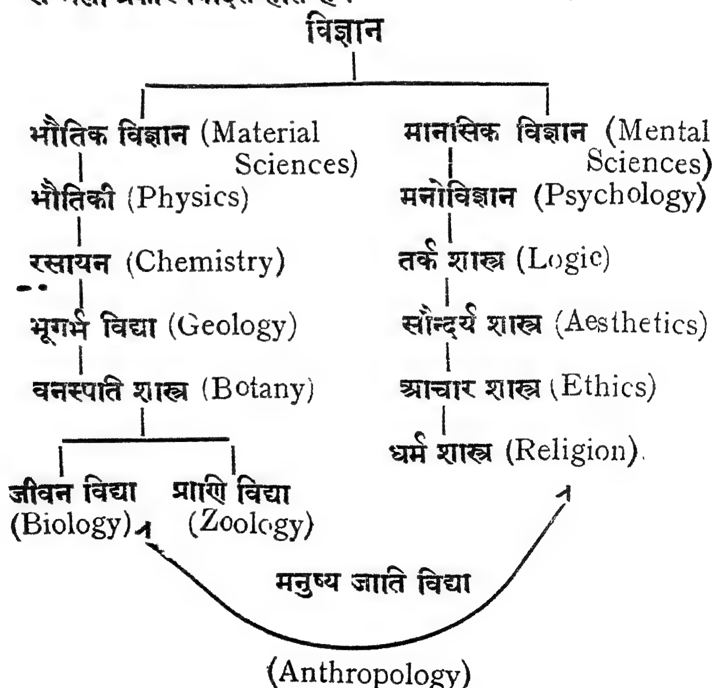
प्रस्तावना

जिज्ञासा मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, ज्ञान की उपलब्धि का भी यही मूल कारण है, मनुष्य ने जितना ज्ञान उपार्जन किया है उस को अनेक विभागों में विभक्त कर डाला है। प्रत्येक विभाग को वह विज्ञान के नाम से पुकारता है। इस समय हमारे सामने कई विज्ञान उपस्थित हैं उन में से कई अपनी उन्नत दशा को प्राप्त कर चुके हैं। और कई उन्नतिशील नजर आते हैं। प्रत्येक विज्ञान किसी विशेष विषय का आन्दोलन करता हैं उसके विचार क्षेत्र की सीमाएं निश्चित रहती हैं। प्रत्येक विज्ञान अपनी विशेष विचार-विधि का अवलम्बन करता है और अपने नियत विषय के सम्बन्ध में अनेक स्थापनाओं को स्थिर कर के सामान्य नियमों का प्रतिपादन करता है।

विज्ञान वास्तव में नियमित, क्रम बद्ध विचार का नाम है। जब कोई मनुष्य किसी विषय के सम्बन्ध में आलोचना प्रारम्भ करता है तो धीरे २ वह विचारों की पर्याप्त राशि एकत्र कर लेता है उन्हीं विचारों को जब वह शृंखलित और क्रम बद्ध

रूप देता है तो वे विचार विज्ञान के नाम से विभूषित होते हैं। उदाहरणार्थ–रसायन शास्त्र एक विज्ञान है जो प्रकृति की आलोचना करता है। प्रकृति के सम्बन्ध में जितना कुछ ज्ञान मनुष्य ने उपलब्ध किया है वह रसायन शास्त्र में क्रम बद्ध रीति से प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र नक्षत्र सम्बन्धी मानुषीज्ञान की क्रम बद्ध विवेचना करता है।

विज्ञान के दो मुख्य विभाग किये गये हैं जो नीचे के चित्र से भली प्रकार विदित होते हैं।



उपरोक्त चित्र पट में मानसिक विज्ञानों के विभाग में पहिला स्थान, मनोविज्ञान को दिया गया है, परन्तु मानुषिक ज्ञान की वृद्धि को यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जावे तो पता चलता है कि मनो विज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों के एक खास सीमा तक उन्नत हो जाने के पश्चात् प्रादुर्भूत हुआ है। इसका तात्पर्य यह कदापि न समझना चाहिये कि मनुष्य ने मनोवैज्ञानिक चिन्तन थोड़े ही कालों से प्राप्त किया है। जब से मनुष्य ने अपनी मनन शीलता का परिचय देना आरम्भ किया हैं तभी से अन्य विचारों के साथ २ मनोवैज्ञानिक विचार भी उसके हृदय में उठते रहे हैं परन्तु इन विचारों की उसने सर्वद दार्शनिक विचारों की कोटि में ही गणना की है। मनोविज्ञान दर्शन शास्त्र में विलीन रहा है। अभी थोड़ा समय ही व्यतीत हुआ है कि विचारकों ने आत्मा की वैज्ञानिक आलोचना स्वतन्त्र रूप से प्रारम्भ की है। उसका फल यह हुआ है कि मनोविज्ञान ने स्वतन्त्र विज्ञान की स्थिति प्राप्त की है और दार्शनिक क्षेत्र से पृथक होकर अपने लिये निश्चित विवेचना का क्षेत्र नियत किया है।

जिस विज्ञान का आरम्भ अब हम करने लगे हैं उस का महत्व कई दृष्टियों से दर्शाया जा सकता है। वह अन्य सब विज्ञानों की अपेक्षा अपने अन्दर कई विशेषताएं रखता है। भौतिक विज्ञान जहां बाह्य जगत की आलोचना करता है वहां मनो-

विज्ञान हमारे आन्तरिक जगत का विवेचन करता है। जब तक इन दोनों लोकों का यथोचित ज्ञान मनुष्य को प्राप्त नहीं होता तब तक मनुष्य अपने जीवन का पूरा २ विकास नहीं प्रकट कर सकता। वाह्य जगत का ज्ञान भी वास्तव में हमें उसी सीमा तक उपयोगी हो सकता है जहां तक वह हमारे आत्म-ज्ञान का साधक हो। एक आङ्गल कवि ने कहा है कि संसार के अद्भुतालय में सब से बड़ा अजूबा मनुष्य है और मनुष्य के अन्दर सब से बड़ा अजूबा उस की अपनी आत्मा है इस लिये मनोविज्ञान का सब से बड़ा महत्व यह है कि वह हमें इस सब से बड़े अजूबे का अवलोकन कराता है। इस के अतिरिक्त संसार के बड़े २ तत्ववेत्ता, ज्ञानी, ध्यानी, ऋषि, मुनि इस बात पर बल देते आए हैं कि मनुष्य के लिये आत्म-ज्ञान से बढ़ कर कोई पदार्थ ईप्सित नहीं। आत्मज्ञान को ही सब ने सर्वश्रेष्ठ वस्तु माना है। युनानी तत्ववेता सुकरात कहते हैं "Know thyself" अपने आप को पहिचानो। यह आत्म-ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जब हम मनोविज्ञान के अध्ययन द्वारा आत्मा की शक्तियों तथा उस के सब प्रकार के मानसिक व्यापारों का भली भान्ति विवेचन करें।

मनो विज्ञान का महत्व एक और प्रकार से भी प्रकट किया जा सकता है। किसी जाति की उन्नति का यदि अन्दाज़ा लगाना हो तो हमें उस जाति की शिक्षा और शिक्षकों पर

दृष्टिपात करनी होगी। उच्च शिक्षा और उच्च कोटि के शिक्षकों की सत्ता ही जातीय उन्नति की बोधक होती है। परन्तु यदि शिक्षा का मूल उद्देश्य चरित्र सङ्गठन स्वीकार कर लिया जावे तो चरित्र सङ्गठन के लिये मनोविज्ञान का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। मानवीय चरित्र, मानुषी विचारों, भावनाओं, तथा सङ्कल्पों का फल है परन्तु इन सब मानसिक व्यापारों का क्रमबद्ध विचार मनो विज्ञान द्वारा ही प्राप्त होता है। एक उच्चकोटि के शिक्षक के लिये भी यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह मनोविज्ञान का पण्डित हो। जो कार्य वैद्य शरीर-विद्या से लेता है वही कार्य शिक्षक मनोविज्ञान से ग्रहण करता है। मनोविज्ञान के नियमों की सहायता से अध्यापक बच्चों का शिक्षण भली प्रकार कर सकता है। शिक्षाविज्ञान का आधार मनोविज्ञान को ही समझना चाहिये। इस स्थापना की सत्यता को पाश्चात्य देशों में आजकल भली प्रकार अनुभव किया जा रहा है। इसी लिये वहां के शिक्षणालयों में अध्यापकों के लिये यह आवश्यक समझा जाता है कि वे मनोविज्ञान के सिद्धान्तों से भली प्रकार परिचित हों।

उपरोक्त विचार से यह भी सिद्ध होता है कि मनोविज्ञान का अध्ययन प्रत्येक माता और पिता के लिये भी परम आवश्यक है क्योंकि बाल्यावस्था में अपने बच्चों का पालन पोषण और शिक्षण करना उन्हीं के हाथों में रहता है। माता

द्वारा डाले हुए संस्कार अमिट होते हैं। उनके प्रभाव जीवन पर्यन्त रहते हैं। ऐसी अवस्था में यदि माताओं को यह भली प्रकार विदित हो जावे कि किस आयु में किस प्रकार के संस्कार अभीष्ट हैं और बच्चों के चरित्र पर उनका क्या और किस सीमा तक प्रभाव पड़ता है तो वे अपने बच्चों की आत्माओं का शिक्षण सुन्दर रीति से कर सकेंगी अन्यथा अर्द्धशिक्षित अथवा अशिक्षित माताएं स्वयं मनोविज्ञान की शिक्षा से वञ्चित रह कर बच्चों को भी सुशिक्षा तथा सच्चरित्र के उत्तम प्रभावों से पृथक रखेंगी।

मनोविज्ञान की आवश्यकता वैद्यों तथा धर्म्मोपदेशकों को भी विशेष प्रकार से अनुभव होती है। वैद्य लोग भी इस बात का अनुभव कर रहे हैं कि रोगियों की चिकित्सा में औषधियों के साथ २ मानसिक प्रभावों से भी सहायता ग्रहण करनी चाहिये। मनोविज्ञान की सहायता से वे लोग रोगियों की मानसिक दशा को विचार शक्ति द्वारा उन्नत करते हैं। उनके उन्नत मन उनके शरीर पर प्रभाव डालते हैं और इससे कई प्रकार के शारीरिक रोगों की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार धर्म्मोपदेशक भी यदि मनोविज्ञान का पण्डित है तो वह अपने यजमानों अथवा श्रोताओं के अन्दर विशेष मानसिक भावों का प्रचार कर के उनके जीवनों को उच्च तथा उन्नत बनाने का यत्न करेगा। वह अपने भाषण में वह मनोरञ्जकता

तथा उत्तेजकता लायेगा जो श्रोताओं के हृदयाकर्षण के लिये आवश्यक है। साधारण उपदेशक मनोविज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण मनुष्य की मानसिक प्रवृतियों को नहीं समझ सकते अतः उनको अपने कार्य में पूर्ण कृतकार्यता प्राप्त नहीं हो सकती।

न्यायाधीश तथा वकील पेशा लोगों के लिये भी मनोविज्ञान का अध्ययन अत्यावश्यक है। इन लोगों को प्रायः अपराधियों की मनोवृत्तियों की जांच पड़ताल से काम पड़ता है। इसीप्रकार पुलिस विभाग में कार्य करने वालों को भी मनोविज्ञान का अध्ययन सहायक होता है।

इन विशेष व्यवसायों को छोड़कर मनोविज्ञान का अध्ययन मनुष्य मात्र के लिये उपयोगी है मनुष्य को सामाजिक प्राणी कहा जाता है। वह सामाज में रहता है। उस की जीवन यात्रा की सफलता बहुत कुछ उसके सामाजिक कर्तव्यों को भली भान्ति पालन करने पर आश्रित रहती है। मनुष्य अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन तब तक सफलता पूर्वक नहीं कर सकता जबतक कि वह समाज निष्ठ अन्य व्यक्तियों के स्वभाव को समझ न लेवे परन्तु यह कार्य पूर्णतया सिद्ध होना मनोविज्ञान के बिना असम्भव है। इस लिये सामाजिक व्यवहार को दक्षतापूर्वक चलाने तथा उसको अधिक शान्तिमय बनाने के लिये मनोविज्ञान से थोड़ा बहुत परिचय सब के लिये परम आवश्यक है।

मनोविज्ञान

पहिला अध्याय

मनोविज्ञान का लक्षण, उसका क्षेत्र तथा विधि

१—मनोविज्ञान का सब से साधारण तथा सरल लक्षण जो परम्परा से प्रामाणिक समझा गया है यह है कि मनोविज्ञान उस शास्त्र का नाम है जो "आत्मा" का विवेचन करता है अर्थात् आत्म-ज्ञान सम्बन्धी शास्त्र का नाम मनोविज्ञान है। इस लक्षण को वर्तमान काल के विज्ञान के रंग से रंगे हुए मनोविज्ञानवेता स्वीकार नहीं करते। वे इस लक्षण में जो बड़ी आपत्ति देखते हैं वह स्वयं आत्मा शब्द का प्रयोग है। उनके मतानुसार आत्मा एक विवादास्पद विषय है। आत्मा प्रकृति से अतिरिक्त एक स्वतन्त्र पदार्थ है वा नहीं इस प्रश्न पर दोनों प्रकार के विचार रखने वाले मनोविज्ञान के पण्डित उपस्थित हैं। ऐसी दशा में मनोविज्ञान का लक्षण आत्मा शब्द के प्रयोग से करना प्रारम्भ में ही इस विज्ञान को विवादमय बना देना है।

२—इस आपत्ति से बचने के लिये कई विचारकों ने मनो विज्ञान से तात्पर्य्य एसे शास्त्र का लिया है जो 'मन' की विवेचना करे। परन्तु मन शब्द भी, आत्मा शब्द के समान वैसी ही

कठिनाई उपस्थित करता है। तर्क शास्त्र भी किसी अंश में मन (विचार) ही के साथ सम्बन्ध रखता है। ऐसी अवस्था में इन दोनों शास्त्रों का क्षेत्र-भेद आवश्यक प्रतीत होता है।

३–इन दोनों लक्षणों से अधिक स्पष्ट मनोविज्ञान का लक्षण वह है जो इसे "चेतना" (Consciousness) का विज्ञान पुकारता है। चेतना शब्द अधिक परिचित शब्द है। चेतना का यथार्थ भाव भी सुलभतया उपलब्ध है। सब मनुष्यों को अपने ज्ञान और अपनी चेतना का साक्षात् बोध होता है। उनकी सत्ता में सन्देह असम्भव है, क्योंकि सन्देह स्वयं "चेतना" का प्रतिपादक है। ऐसी दशा में आत्मा शब्द के स्थान में चेतना शब्द का प्रयोग यद्यपि लक्षण को अधिक सरल तथा सुबोध बना देता है तथापि एक आपत्ति भी उपस्थित कर देता है। प्रत्येक चेतना वैयक्तिक होने के कारण उस का ज्ञान भी सर्वदा वैयक्तिक होगा। परन्तु विज्ञान की दृष्टि से हमें केवल वैयक्तिक चेतनता का अध्ययन अभीष्ट नहीं, अपितु उन व्यापक सिद्धान्तों के जानने की आवश्यकता है जो अनेक व्यक्तियों की चेष्टा पर घट सकें। यह तभी सम्भव है जब कि वैयक्तिक चेतना के साथ साथ अन्य व्यक्तियों की चेतना का परिज्ञान भी हम प्राप्त करें। ऐसी दशा में मनोविज्ञान का लक्षण और भी अधिक व्यापक होना चाहिये। अतः चेतना की अपेक्षा हमें किसी अधिक व्यापक परिभाषा का लक्षण में प्रयोग करना चाहिये।

४—वर्तमान काल के सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता महाशय "मैकडूगल" तथा "पिल्ज़बरी" इस शास्त्र का नये प्रकार से लक्षण करते हैं। उन का लक्षण अधिक सारगर्भित तथा व्यापक प्रतीत होता है। यह लोग मनो विज्ञान से तात्पर्य उस शास्त्र का लेते हैं जो मानसिक व्यापारों का क्रमबद्ध विवेचन करता है। मानसिक व्यापार किस को कहते हैं इस को समझने के लिये हम को थोड़ी देर अपनी चेतना का अन्तरीय अवलोकन करना चाहिये। जब मैं अन्तर्ध्यान होकर अपनी चेतना का अवलोकन करता हूं तो मुझे वहां पर किसी न किसी मानसिक दशा की विद्यमानता नज़र आती है। अपने अन्दर मैं या तो यह अनुभव करता हूं कि मैं किसी बात का "ध्यान" कर रहा हूं, या किसी पदार्थ की प्राप्ति की मुझे "आशा" लग रही है या किसी विषय में मुझे "सन्देह" उत्पन्न हो रहा है या मुझ को अपने किसी कार्य के सम्बन्ध में "भय" उत्पन्न हो रहा है या अपने किसी मित्र का "स्मरण" करके मुझे "प्रसन्नता" हो रही है, या अपने किसी शारीरिक अथवा मानसिक "दुःख" का अनुभव हो रहा है, इत्यादि इसी प्रकार की अनेक मानसिक अवस्थाओं में से कोई न कोई अवस्था इस समय मेरे अन्तरीय अवलोकन का विषय बन रही है। ध्यान, आशा, दुःख, सुःख, स्मरण, भय, सन्देह, इत्यादि यह सब

मानसिक व्यापार हैं। इन सब मानसिक व्यापारों के साथ कोई न कोई विषय सम्बद्ध रहता है। जब मैं चिन्तन करता हूं तो मेरा चिन्तन किसी विषय को लक्ष्य रखके ही होता है। जब मैं कोई सुख, दुःख अनुभव करता हूं, तो वह सुख, दुःख भी किसी विषय के कारणभूत होने से उत्पन्न होते हैं। उपरोक्त विचार से यह स्पष्ट विदित होता है कि मानसिक व्यापार और उन का विषय दोनों पृथक २ ज्ञान गोचर हो सकते हैं। मनोविज्ञान केवल मानसिक व्यापारों का ही आन्दोलन करता है। मानसिक व्यापारों की व्याख्या, उन के परस्पर सम्बन्धों का दर्शाना तथा उन व्यापक नियमों का खोजना है जिन के आधीन वे मानसिक व्यापार कार्य करते हैं। यही मनोविज्ञान शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। मानसिक व्यापारों के "विषय" अन्य विज्ञानों द्वारा प्रतिपादित होते हैं।

इस लक्षण की सार्थकता

यह लक्षण क्यों अधिक सर्वप्रिय बन रहा है इस पर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रथम तो 'व्यापार' शब्द का प्रयोग अति विस्तृत अर्थों में लिया जा सकता है, मनुष्य से लेकर सब प्राणियों तक के सम्बन्ध में मानसिकव्यापार शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। यदि एक मनुष्य विषय के सन्निकर्ष पर किसी विशेष प्रतिक्रिया अथवा मानसिक व्यापार को प्रकट

करता है तो लग भग वैसी ही प्रतिक्रिया या व्यापार पशु पक्षी कीट पतङ्ग आदि भी प्रकट करते हैं। ऐसी दशा में मानसिक व्यापार का विवेचन मनोविज्ञान शास्त्र के क्षेत्र को बहुत विस्तृत बना देता है। जहां मानुषी चेतना की आलोचना वैयक्तिक थी, वहां मानसिक व्यापारों का अध्ययन व्यापक तथा सर्वनिष्ठ होने के कारण मनोविज्ञान को वास्तव में विज्ञान कहलाने का अधिकारी बना देता है। किसी शास्त्र को विज्ञान का नाम तभी दिया जा सकता है जब वह अपने विषय सम्बन्धी घटनाओं का किन्हीं सामान्य नियमों अथवा सिद्धान्तों की दृष्टि से प्रतिपादन करे। मनोविज्ञान शास्त्र भी अन्य विज्ञानों के समान प्राणियों के मानसिक व्यापारों का विस्तृत अध्ययन करके कई एक सामान्य नियमों की स्थापना करना चाहता है।

मानसिक व्यापारों के तीन भेद

मनुष्य की आत्मा का परिचय हमें इन मानसिक व्यापारों द्वारा होता है। प्रत्येक क्षण में हम अपने अन्दर किसी न किसी व्यापार की विद्यमानता पाते हैं। एक व्यापार के पश्चात् दूसरा, दूसरे के पश्चात् तीसरा आता चला जाता है। यह सब मानसिक व्यापार तीन प्रकार के गिनाए गए हैं—

१—ज्ञान सम्बन्धी, जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृति, कल्पना आदि।

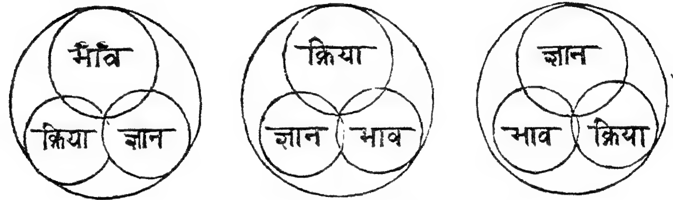
२–भाव सम्बन्धी, (वेदना सम्बन्धी) जैसे सुख, दुःख, प्रेम, क्रोध इत्यादि ॥

३–क्रिया सम्बन्धी, जैसे ध्यान, प्रयत्न, प्रवृत्तियां आदि।

मानसिक व्यापारों के यह भेद उनकी पारस्परिक पृथकता का समर्थन नहीं करते। वे प्रायः हमारे मानसिक जीवन में सम्मिलित रूप में ही उपस्थित होते हैं। बाज़ार में जाते हुए मैं एक कोढ़ी को देखता हूँ, मुझे दुःख होता है। तुरन्त उस की सहायता का विचार मेरे मन में उठता है। विचार कर मैं यह निश्चय करता हूँ कि इस की सहायता आवश्यक है। इस निश्चयानुसार अपनी पाकट में हाथ डाल उसको कुछ आर्थिक सहायता देता हूँ। इस उदाहरण में तीनों प्रकार के मानसिक व्यापारों का समावेश पाया जाता है। कोढ़ी को देखकर दुःख का अनुभव, उसकी दुःख निवृत्ति का चिन्तन तथा सहायता का प्रदान, भाव, ज्ञान तथा क्रिया तीनों व्यापारों का बोधक है।

यद्यपि इन तीनों व्यापारों का भेद प्रकट किया जासकता है तथापि मानसिक जीवन में उनकी सर्वथा पृथकता सम्भव नहीं। जब भी हम मानसिक जीवन का अवलोकन करते हैं तो इनमें से किसी न किसी की प्रधानता अवश्य प्रकट होती है। क्रोध की दशा में भाव की प्रधानता, अध्ययन काल में ज्ञान की प्रधानता, इसी प्रकार वृक्ष काटते समय क्रिया की प्रधानता दीखती है।

निम्न चित्रों द्वारा इस उपरोक्त कल्पना का भलीभान्ति स्पष्टीकरण होता है--



मनोवैज्ञानिक सम्प्रदाय

मनोविज्ञान के दो मुख्य सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय अति प्राचीन काल से युनान देश तथा भारतवर्ष में प्रचलित था। इस सम्प्रदाय को मनोविज्ञान की परिभाषा में "आध्यात्मिक सम्प्रदाय" (Rational School) कहते हैं। दूसरा सम्प्रदाय अर्वाचीन है यह आधुनिक वैज्ञानकों को प्रिय है। मनोविज्ञान की परिभाषा में इस का नाम "प्रत्यक्षात्मक-सम्प्रदाय" (Empirical School) प्रसिद्ध है। यह दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे से लक्ष्य-भेद तथा विधि-भेद रखते हैं। आध्यात्मिक सम्प्रदाय का लक्ष्य शरीर से पृथक "आत्मा" की सत्ता की स्थापना करना तथा उसके स्वरूप की विवेचना करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह सम्प्रदाय केवल इतना ही पर्याप्त समझता है कि आन्तरिक दृष्टि से आत्म निरीक्षण कर लेवे तथा वैयक्तिक शुष्क कल्पनाओं द्वारा आत्मा की शक्तियों तथा गुणों का बोध प्राप्त कर लेता है। यह सम्प्रदाय

इस बात की आवश्यकता को अनुभव नहीं करता कि आत्म-निरीक्षण के साथ २ अन्य आत्माओं के मानसिक व्यापारों का परिज्ञान भी मनोविज्ञान के लिये अभीष्ट है। आध्यात्मिक सम्प्रदाय मनोविज्ञान के अध्ययनार्थ आत्म-निरीक्षण अथवा "अन्तः प्रेक्षण" (Introspection) की विधि को ही स्वीकार करता है इस सम्प्रदाय के अनुयायी बाह्य जगत में दृष्टिपात करना उचित नहीं समझते। उनको इस बात की चिन्ता नहीं कि अन्य मनुष्यों का अनुभव उनके अपने आत्मनिरीक्षण का समर्थन करता है वा नहीं। वे आत्मा के अन्तरीय बोध को ही पर्याप्त समझते हैं। इस प्रकार बाह्य अनुभव से अपने आपको सर्वथा वञ्चित रखकर इन लोगों ने मनोविज्ञान को एक देशीय अथवा एकाङ्गिक बना दिया है। विचित्र पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करके इस अत्यन्त मनोरञ्जक विज्ञान को एक बन्द पुस्तक की न्याईं बना डाला है।

नवीन सम्प्रदाय अर्थात् प्रत्यक्षात्मक सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हौब्स ने किया है जो अपने समय में कपार्निक्स, केप्लर, हार्वे, गैलिलियो आदि की शिक्षा से प्रभावित हो चुका था। हौब्स के पीछे आङ्गल विचारक लाक, बर्क्लि, ह्यूम, हैमिल्तन, तथा मिल आदि ने मनोविज्ञान के क्षेत्र में वैयक्तिक कल्पना के स्थान में पहिले पहिल "बाह्य निरीक्षण" (Observation) पर ज़ोर दिया था। यही लहर जर्मनी में उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में

चली। जब कि हर्बर्ट ने कल्पनात्मक विधि का विरोध आरम्भ किया। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अपनी विचार सामग्री निम्न स्थानों से एकत्रित करता है:—

(क) वैयक्तिक आत्माओं के अन्तरीय निरीक्षण द्वारा।

(ख) आत्माओं के सामाजिक सहवास की आलोचना द्वारा।

(ग) शिक्षकों के शिक्षा अनुभव द्वारा।

(घ) भिन्न २ समयों के लिखित साहित्य के अध्ययन द्वारा।

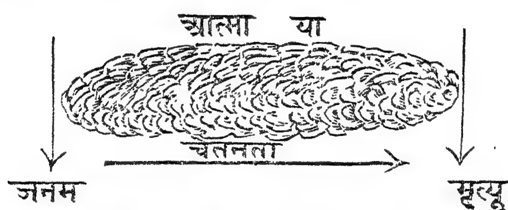
(ङ) पौराणिक गाथाओं तथा यात्रियों के विस्तृत विदेशीय समाचार सूचना द्वारा।

(च) रोगी, पागल, तथा पशुओं के मानसिक व्यापारों की विधि पूर्वक आलोचना द्वारा।

प्रत्यात्त्वात्मक सम्प्रदाय का लक्ष्य आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता का निरूपण तथा स्थापन नहीं है। उसकी दृष्टिमें मनोविज्ञान के लिये केवल इतना ही अभीष्ट है कि वह प्रत्यक्ष आत्मा अर्थात् "चेतना" जो मानसिक व्यापारों के रूप में प्रकट हो रही है उसका पर्यालोचन करे। उस की दृष्टि में आत्मा केवल मानसिक व्यापारों का निरन्तर प्रवाह है। इस सम्प्रदाय के मतानुसार मनोविज्ञान के लिये आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता एक 'स्वीकृति'

है। उस की स्थापना या सिद्धि मनोविज्ञान का कार्य नहीं है। यह कार्य एक स्वतन्त्र शास्त्र का है जिस का नाम "अन्तिम सत्तावाद" (Metaphysics) है।

मनोविज्ञान अपने अध्ययन द्वारा आत्मा के प्रश्न पर बहुत कुछ रोशनी डालता है परन्तु सीधे तौर पर इस प्रश्न का उठाना वह अनधिकार चेष्टा समझता है इस लिये प्रत्यक्षात्मक मनोविज्ञान की दृष्टि से यदि आत्मा को चित्र द्वारा प्रकट करना हो तो निम्न प्रकार से हो सकता है।



उपरोक्त चित्र में एक वैयक्तिक आत्मा को मानसिक व्यापारों के प्रवाह रूप में प्रकट किया गया है। यह प्रवाह जन्म और मृत्यु के अन्तर्गत सञ्चारित हो रहा है।

प्रत्यक्षात्मक सम्प्रदाय आध्यात्मिक सम्प्रदाय के समान मनोविज्ञान के अध्ययन के लिये केवल अन्तः प्रेक्षण विधि को ही पर्याप्त नहीं समझता। वह इस के साथ साथ वाह्य निरीक्षण, परीक्षण तथा गणना, संख्या, परिमाण, तोल आदि वैज्ञानिक विधियों का अवलम्बन भी अत्यन्त आवश्यक

समझता है। इन्हीं वैज्ञानिक विधियों की स्वीकृति द्वारा मनोविज्ञान को यह वर्तमान विशाल रूप प्राप्त हुआ है।

मनोवैज्ञानिक विधि
तथा
उस पर विवाद

पूर्वोक्त विचारों से यह स्पष्टतया फलित होता है कि मनोविज्ञान ने एक स्वतन्त्र विज्ञान की पदवी प्राप्त कर ली है। ऐसी दशा में स्वभावतः उसके अध्ययन की विधि भी वही होनी चाहिये जिसका अन्य विज्ञान अवलम्बन करते हैं, इस लिये पूर्व इसके कि हम मनोवैज्ञानिक विधि की विशेषता को प्रकाशित करें, हमें यह समझ लेना चाहिये कि विज्ञान किस विधि का आश्रय लेते हैं।

प्रत्येक विज्ञान जब अपने विषय का आन्दोलन करना प्रारम्भ करता है तो सबसे पहिले अपने विषय सम्बन्धी घटनाओं को सन्मुख लाकर उनका "निरीक्षण" करता है। निरीक्षण घटनाओं के ध्यान पूर्वक अवलोकन का नाम है। निरीक्षण के पश्चात उन घटनाओं को "परीक्षण" के क्रम से गुज़ारा जाता है। परीक्षण में दो क्रियाएं सम्मिलित रहती हैं, पहिली क्रिया द्वारा हम घटनाओं का "विश्लेषण" अर्थात् उनका

सरल अंशों में विभाग करते हैं। इस बात का निश्चय करने के लिये कि उसके सरल अंश यही हैं हम परीक्षण की दूसरी क्रिया "संश्लेषण" द्वारा उन सरल अंशों को पुनः मिलाकर मूल घटना को उत्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं। यहां पर वैज्ञानिक विधि का दूसरा पग समाप्त होता है। विश्लेषण और संश्लेषण द्वारा हमें कुछ ऐसे नियमों का ज्ञान होता है जिनके आधीन मूल घटना का व्यापार सम्भव होता है। इस मूल घटना सम्बन्धी नियमों या सिद्धान्तों की स्थापनाओं का नाम "सिद्धान्त निश्चय" (Generalization) है। यह वैज्ञानिक विधि का तीसरा तथा अन्तिम पग कहलाता है। मनोविज्ञान इस साधारण वैज्ञानिक विधि का प्रयोग अपने क्षेत्र में निस्सङ्कोच करता है।

मनोविज्ञान का प्रतिपाद्य विषय मानसिक व्यापार तथा मानसिक दशाएं हैं। मनोविज्ञान का अध्ययन इन्हीं के निरीक्षण से प्रारम्भ होता है। मानसिक व्यापार आन्तरिक होने के कारण अन्तर्ध्यान होकर हमें उनका निरीक्षण करना पड़ता है। इस अन्तर्ध्यान निरीक्षण का नाम मनोविज्ञान की परिभाषा में "अन्तःप्रेक्षण" (Introspection) है परन्तु अन्तः प्रेक्षण द्वारा हमें अपनी २ वैयक्तिक आत्माओं का बोध होता है। आध्यात्मिक मनोविज्ञान ने केवल इसी को ही पर्याप्त समझा है। परन्तु प्रत्यक्षमूलक मनोविज्ञान इस के साथ २ वाह्य निरीक्षण

(Extrospection or Observation) से भी कार्य लेना चाहता है। वाह्य निरीक्षण द्वारा अन्य प्राणिवर्ग के मानसिक विचारों का अवलोकन किया जाता है।

अतः मनोविज्ञान की अन्य विज्ञानों से बड़ी भारी विशेषता यह है कि जहां अन्य विज्ञान केवल वाह्यनिरीक्षण से काम लेते हैं, वहां मनोविज्ञान अन्तः निरीक्षण पर अधिक बल देता है। वास्तव में अन्तः प्रेक्षण ही मनोविज्ञान के अध्ययन का आधार है। वाह्यनिरीक्षण भी उसी की सहायता से फलदायक होता है।

मानसिक व्यापारों के निरीक्षण के पश्चात् मनोविज्ञान-वेत्ता उनको विज्ञान की साधारण विधि के अनुसार घटकों (सरल अंशों) में विभक्त कर देता है। इस विश्लेषण क्रिया द्वारा वह यह जानने का उद्योग करता है कि निरीक्षित मानसिक व्यापार स्वयमेव सरल घटना है या कई सरल घटनाओं का मिश्रण है। उदाहरणार्थः—क्रोध नामक मानसिक व्यापार को अपने सन्मुख लाईये, साधारणतया देखने से यह एक सरल अनुभव प्रतीत होता है। परन्तु थोड़ा सा विचार करने पर यही अनुभव मिश्रित प्रतीत होने लगता है। और उस में भिन्नांश दीखने लगते हैं।

(क) उस व्यक्ति का विचार जिस के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ है।

(ख) उस व्यक्ति की चेष्टा, क्रिया आदि का विचार, जिसके कारण वह क्रोध उत्पन्न हुआ है।

(ग) कई एक सहचारी भाव जिनके द्वारा क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित हो गई है।

(घ) क्रोधित मनुष्य की अपनी बदला लेने की इच्छा।

(ङ) अनेक शारीरिक अनुभव जैसे चेहरे का लाल हो जाना, मुक्का दिखाना, होठों का फड़कना, शरीर का काम्पना तथा दुःख का अनुभव करना इत्यादि।

यह सब सरल अनुभव मिल कर उस क्रोध रूपी अनुभव को बनाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि यह सब सरल अनुभव एक मनुष्य के क्रोध रूपी मानसिक व्यापार के उपस्थित होने पर अपने तीव्र रूप में विद्यमान हो जावें। विश्लेषण क्रिया के बाद संश्लेषण का कार्य आरम्भ होता है। परन्तु स्मरण रहे कि संश्लेषण का प्रयोग विज्ञान में और विशेष कर मनोविज्ञान में एक खास सीमा तक ही सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थः- यदि आप सरल अंशों को कृत्रिम रीति से मिलाकर क्रोधावेश उत्पन्न करना चाहें तो कठिन प्रतीत होगा। हां एक सीमा तक यदि वाह्य-उद्भावक उपस्थित कर दिया जावे तथा शरीर में किसी प्रकार वे सब व्यापार उत्पन्न हो जावें जो क्रोध के भाव के पूर्वगामी तथा सहचारी हों तो सम्भवतः क्रोधावेश उत्पन्न हो जावेगा।

तीसरा पग वैज्ञानिक विधि का सिद्धान्तनिश्चय बतलाया गया है। मानसिक व्यापारों के निरीक्षण तथा परीक्षण से हमें उन के अन्तर्गत कुछ व्यापक नियमों की विद्यमानता दीख पड़ती है। शारीरिक दशाओं तथा मानसिक व्यापारों में भी कई निश्चित सम्बन्ध पाये जाते हैं। इन आवश्यक, व्यापक सम्बन्धों तथा नियमों का सूत्र रूप में प्रकट करने का नाम भी सिद्धान्त-निश्चय है। मनोवैज्ञानिक नियम अधिकांश इस बात का उल्लेख करते हैं कि कौन से मानसिक व्यापार किन अन्य व्यापारों को उत्पन्न करते हैं तथा वे किन २ अन्य व्यापारों के सहचार वा अनुक्रम के द्योतक हैं।

मनोवैज्ञानिक विधि पर आक्षेप

मनोवैज्ञानिक विधि पर आक्षेप करने वाले प्रत्यक्षमूलक मनोविज्ञान की स्थिति को तो स्वीकार करते ही हैं परन्तु वे इस विज्ञान की मूल विधि अन्तः प्रेक्षण पर कई आक्षेप करते हैं, जिनकी मीमांसा यहां पर विषयान्तर न होगी। वे लोग वाह्य निरीक्षण तथा परीक्षण को ही पर्याप्त समझते हैं, किन्तु हम पहिले लिख चुके है कि अन्तः प्रेक्षण वस्तुतः वाह्य निरीक्षण का भी आधार है, इसी लिये इसको मनोविज्ञान की विशेष विधि कहा गया है।

अन्तः प्रेक्षण विधि पर आक्षेप करने वालों का अगुआ महाशय कौण्ट फ्रैंञ्च दार्शनिक हुआ है, यह मनोविज्ञान की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करता था। उसकी सम्मति में मनोविज्ञान को "जीवन विद्या" (Biology) तथा "शरीरविद्या" (Physiology) में सम्मिलित समझना चाहिये। अन्तः प्रेक्षण-विधि पर उसका यह आक्षेप है कि यह एक सर्वथा असम्भव विधि है अर्थात् अन्तः प्रेक्षण द्वारा किसी मानसिक व्यापार का निरीक्षण नहीं हो सकता। जब कोई मानसिक व्यापार हमारी आत्मा में उपस्थित होता है तो अन्तः प्रेक्षण द्वारा उस व्यापार का निरीक्षण वास्तव में एक नये व्यापार को उत्पन्न कर देता है, और प्रथम व्यापार या तो समाप्त ही हो जाता है या परिवर्तित रूप धारण करता है। ऐसी दशा में जब प्रेक्ष्य व्यापार ही न रहा तो प्रेक्षण किस का ? मान लो इस समय मैं अपने सामने एक कुर्सी देखता हूं। परन्तु जब मैं कुर्सी के देखने की क्रिया का अन्तर्दृष्टि द्वारा अवलोकन प्रारम्भ करता हूं। तो वास्तव में एक नई मानसिक दशा को जागृत करता हूं। मेरा मानसिक व्यापार इस समय कुर्सी का देखना नहीं। अपितु "कुर्सी के देखने का देखना है" इसी विचार को अधिक बल पूर्वक प्रकट करने के लिये कोण्ट महाशय कहता है कि मनोविज्ञान पितृघात का दोषी है अर्थात् अन्तः प्रेक्षण द्वारा किसी मानसिक दशा का निरीक्षण वास्तव में एक पीछे आने

वाली मानसिक दशा द्वारा एक पूर्वगामी मानसिक दशा का हनन या घात करना है।

कोएट के इस आक्षेप से प्रभावित हो कर कई अन्य विद्वानों ने भी दबे शब्दों में अन्तः प्रेक्षण विधि की उपयोगिता में आशंका प्रकाशित की है। जानस्टुअर्ट मिल कहते हैं कि यदि अन्तः प्रेक्षण असम्भव है तो अनुप्रेक्षण (स्मृति) तो सम्भव है। मानसिक व्यापारों का अवलोकन यदि तत्कालिक न भी हो सके तो भी स्मृति द्वारा उन का निरीक्षण तो हो ही सकता है। इसी कथन की पुष्टि करते हुए प्रोफैसर विलियम जेम्ज़ ने यहां तक कह डाला है "अन्ततः सारा अन्तः प्रेक्षण वास्तव में अनुप्रेक्षण ही है" (all Introspection is Retrospection) इन दोनों महाशयों के विचार यद्यपि कोएट महाशय के विरोध में कहे गये हैं परन्तु वास्तव में यह दोनों उस की सम्मति को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते नजर आते हैं। यदि अनुप्रेक्षण या स्मृति द्वारा ही मानसिक व्यापारों का अध्ययन हो सकता है तो अन्तः प्रेक्षण का अस्तित्व मानने में क्या लाभ है?

परन्तु क्या सच मुच अन्तः प्रेक्षण असम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर अपनी २ चेतना के आन्तिरिक निरीक्षण द्वारा ही हम दे सकते हैं। हमारा आन्तारिक अनुभव बतलाता है कि हमारे मानसिक व्यापार धारा रूपेण प्रवाहित हो रहे हैं। वह अपनी चञ्चलता के कारण क्षणिक या अल्प कालिक अवश्य

प्रतीत होते हैं परन्तु ऐसा कोई मानसिक व्यापार नहीं जिसका अन्तः प्रेक्षण द्वारा कुछ न कुछ हम अवलोकन न कर सकें। उसकी चञ्चलता भी कुछ समय लेती है। इस लिये जिस मानसिक व्यापार का अवलोकन हमें अभीष्ट है वह जब २ हमारे मन में उपस्थित होता है तभी २ उसका आन्तरिक अवलोकन हम कर लेते हैं। इस प्रकार बार २ के अवलोकन से हम उस मानसिक व्यापार के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसके साथ २ अन्तः प्रेक्षण के लिये ध्यान की एकाग्रता भी अत्यावश्यक है, यह शक्ति हमें मानसिक व्यापार को अधिक समय तक अपने अन्दर स्थिर रख सकने के योग्य बनाती है। इस आक्षेप के अतिरिक्त समालोचकों ने इस विधि की कई और त्रुटियों या कठिनाईयों का वर्णन किया है जिनका उल्लेख हम नीचे करते हैं :-

१-जब कभी हम किसी मानसिक व्यापार का निरीक्षण करते हैं तो उस समय हम स्वयं ही निरीक्षक होते हैं और स्वंयं ही निरीक्ष्य। ऐसी दशा में हमारे ध्यान की राशि दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक ही समय में हमको बाह्य विषय का प्रत्यक्ष भी करना पड़ता है और उस प्रत्यक्ष सम्बन्धी मानसिक व्यापार का बोध भी उपलब्ध करना पड़ता है, यदि हम मानसिक व्यापार के बोध की ओर ध्यान को आकर्षित करते हैं तो बाह्य विषय का प्रत्यक्ष ठीक प्रकार नहीं हो सकता

और प्रत्यक्ष के ठीक न होने पर तत्सम्बन्धी मानसिक व्यापार का बोध भी असम्भव हो जाता है। विपरीत इसके यदि हम वाह्य विषय के प्रत्यक्ष को अधिक ध्यान अर्पण करते हैं तो उस दशा में मानसिक व्यापार के बोध की अनुपलब्धि सिद्ध ही है, उदाहरणार्थः-मैं एक सुन्दर फूल को देख रहा हूं और विशेष प्रसन्नता को अनुभव कर रहा हूं। यदि मैं इस सामयिक मानसिक दशा का अवलोकन करना चाहूं तो उसी समय मुझे फूल का बाह्य प्रत्यक्ष भी आवश्यक है अन्यथा उस मानसिक व्यापार की स्थिति ही नहीं हो सकती यह कठिनाई वास्तव में ध्यान शक्ति को विशेष अनुपात में बाटने की है और उसका निराकरण क्रमशः अभ्यास द्वारा हो सकता है। हम बाह्य पदार्थ को देखते हुए भी तत्सम्बन्धी मानसिक व्यापार का अवलोकन भी कर सकते हैं। परन्तु अवलोकन में यदि कोई न्यूनता रह जाती है तो उसे स्मरण शक्ति द्वारा दूर कर सकते हैं। स्मरण शक्ति द्वारा हम मानसिक व्यापार को पुनः जागृत करके अपने पूरे ध्यान से उसका आन्तरिक निरीक्षण कर सकते हैं।

२-समालोचक लोग कहते हैं कि अन्तः प्रेक्षण की एक बड़ी त्रुटि यह भी है कि वह हमारे पूर्व सञ्चित पक्षपातों से दूषित हो जाता है। हमारे पक्षपात निश्चयात्मक ज्ञान के विरोधी हैं। बेकिन ने इसी त्रुटि का वर्णन करते हुए कहा है कि मनुष्य का मन एक विषम दर्पण के समान है और वह वाह्य घटनाओं

को बिना मोड़े तोड़े अपने वास्तविक स्वरूप में हमारे सामने पेश नहीं करता। यह सत्य है कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत स्वल्प है जो अपने पक्ष विपक्ष दोनों ओर न्याय पूर्ण दृष्टिपात कर सके। परन्तु यह कठिनाई सारे वैज्ञानिक निरीक्षण पर लागू है। केवल अन्तः प्रेक्षण पर ही नहीं। वैज्ञानिक चाहे बाह्य विषय का निरीक्षण कर रहा हो चाहे अन्तर्ध्यान होकर मानसिक व्यापार का अवलोकन कर रहा हो, दोनों अवस्थाओं में उसे पक्षपात रहित होकर आन्दोलन करना चाहिये।

इन सब कठिनाईयों को दूर करने का प्रत्यक्ष मूलक-मनोविज्ञान ने यह ढंग सोचा है कि वह अपने विचार क्षेत्र में परीक्षण, गणना, तथा माप तोल आदि विधियों का प्रयोग भी अवश्य करे। गणना-विधि की सहायता से वह अनेक व्यक्तियों के मानसिक व्यापारों के अन्तः प्रेक्षण विधि द्वारा निरीक्षण के परिणामों को संग्रह कर के औसत स्थिर करता है। यह कार्य अन्तः प्रेक्षण की निश्चयात्मकता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है। परीक्षण को मनोविज्ञान के क्षेत्र में लाने का यह फल हुआ है कि कई बड़े २ विश्वविद्यालयों में मनोवैज्ञनिक क्रिया-भवन बन गए हैं, जिनमें अनेक प्रकार के यन्त्रों की रचना द्वारा मानसिक व्यापारों का परीक्षण किया जाता है। यह परीक्षण विशेष कर मानसिक तथा शारीरिक व्यापारों के परस्पर सम्बन्धों का प्रतिपादन करते हैं॥

दूसरा अध्याय

मनोविज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध।

मनोविज्ञान का सम्बन्ध तर्क शास्त्र तथा सौन्दर्य और आचार शास्त्र के साथ

मनोविज्ञान का अन्य विज्ञानों के साथ सम्बन्ध प्रकट करने से उस का अपना क्षेत्र और भी स्पष्ट रीति से प्रकाशित होने लगता है। मनोविज्ञान उस शास्त्र का नाम है जो मानसिक व्यापारों की क्रमबद्ध आलोचना करता है। परन्तु मानसिक व्यापार तीन प्रकार के गिनाए गए हैं, ज्ञान सम्बन्धी, संवेदन सम्बन्धी, क्रिया सम्बन्धी। मनोविज्ञान जहां इन तीनों प्रकार के मानसिक व्यापारों का स्वरूप वर्णन करता है वहां पर इन में से प्रत्येक भाग अपनी मीमांसा के लिये एक अन्य विशेष विज्ञान के आधीन रहता है। ज्ञान सम्बन्धी मानसिक व्यापारों की विशेष मीमांसा तर्क शास्त्र का कार्य है। संवेदन सम्बन्धी मानसिक व्यापारों की विशेष मीमांसा सौन्दर्य शास्त्र का कार्य है। इसी प्रकार क्रिया सम्बन्धी मानसिक व्यापारों की विशेष मीमांसा आचार शास्त्र करता है। अतः यह तीनों विज्ञान मनोविज्ञान के अन्तर्गत रहते हैं। मनोविज्ञान से इन का भेद कई प्रकार से दर्शाया जा सकता है। (१) मनोविज्ञान का क्षेत्र इन तीनों विज्ञानों से विस्तृत है। (२) मनोविज्ञान

वास्तविकता की दृष्टि से मानसिक व्यापारों की आलोचना करता है अर्थात् वह यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि मानसिक व्यापारों का वास्तविक स्वरूप क्या है और वे किस प्रकार एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। मानसिक जीवन का उदय और विकास कैसे होता है ? सारे विचार में अस्ति की दृष्टि प्रधान रहती है। परन्तु इस के अन्तर्गत तीनों विज्ञान अपने २ प्रतिपाद्य व्यापारों की निर्णयात्मक दृष्टि से आलोचना करते हैं। उन के सामने तथ्यत् का भाव प्रधान रहता है। तर्क शास्त्र ज्ञान सम्बन्धी मानसिक व्यापारों की विवेचना सत्यासत्य निर्णय की दृष्टि से करना चाहता है। वह यह बतलाना चाहता है कि हमें कैसे चिन्तन करना चाहिये ? ताकि हमारा विचार सत्य विचार कहला सके। आचार शास्त्र क्रिया मूलक मानसिक व्यापारों की अच्छाई, बुराई की दृष्टि से विवेचना करता है, उस की कार्य-समाप्ति इसी में है कि वह हमें अच्छे, बुरे कर्मों का भेद बतला सके तथा आदर्श चरित गठन में हमारा सहायक बन सके। इसी प्रकार सौन्दर्य शास्त्र भी सौन्दर्य तथा कुरूपता के भेद का निर्णय करता है। किसी वस्तु की सुन्दरता का अनुभव करते समय जो मानसिक दशा उपस्थित होती है या जिन भावों का उदय होता है उन का सीधा निरूपण तो मनोविज्ञान के हाथ में है परन्तु हम एक वस्तु को सुन्दर क्यों कहते हैं इस बात का निर्णय सीधे तौर पर सौन्दर्य शास्त्र का कार्य है।

मनोविज्ञान तथा शरीर विद्या का परस्पर सम्बन्ध

शरीर का आत्मा के साथ कितना घनिष्ट सम्बन्ध है इस की विस्तार पूर्वक आलोचना हम आगे चल कर करेंगे। परन्तु यहां केवल हमें इतना स्मरण रखना चाहिये कि जितना अधिक हम को शरीर की रचना आदि का ध्यान होगा उतना ही अधिक हम मानसिक व्यापारों को समझ सकेंगे। नवीन मनोविज्ञान ने शरीर और आत्मा का घनिष्ट सम्बन्ध स्वीकार करते हुए "दैहिक मनोविज्ञान" (Physical Psychology) की स्थापना की है इसी प्रकार यदि अधिक दीर्घ दृष्टि से देखा जाए तो जीवन विद्या भी मनोविज्ञान के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ती चली आती है। जीवन विद्या चेतन पदार्थों का जड़ पदार्थों से भेद प्रकट करती है तथा जीवित पदार्थों अथवा प्राणियों के व्यापारों का अध्ययन करती है। यह अध्ययन मानुषी व्यापारों के अध्ययन में बहुत कुछ सहायक हो सकता है।

समाज शास्त्र

कई विज्ञान अपने विषय के अध्ययन में सीधे तौर पर मनोविज्ञान से सहायता प्राप्त करते हैं उन का उल्लेख भी यहां आवश्यक है। समाज शास्त्र मनुष्य समाज की रचना तथा उस के विकास और ह्रास के नियमों की विवेचना करता है। मनुष्यों के परस्पर सहवास तथा उन की सामाजिक संस्थाओं के संगठन की प्रवृति को वैज्ञानिक दृष्टि से समझने का प्रयत्न करता है। परन्तु मनुष्य समाज व्यक्तियों के संगठित समूह का नाम है। मनोविज्ञान व्यक्तिगत

आत्मा अथवा चेतना का अध्ययन करता है। अतः समाज शास्त्र को इस विज्ञान की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि उसको व्यक्तियों की सामूहिक चेतना का आन्दोलन करना पड़ता है। समाजों के उत्थान तथा अधोपतन में प्रायः उन्हीं मानसिक प्रवृतियों का प्रादुर्भाव होता है जो साधारण व्यक्तियों के मानसिक जीवन में दृष्टिगोचर होती हैं। अतः व्यक्तियों के मानसिक जीवन की आलोचना जो मनोविज्ञान का कार्य है, एक समाज शास्त्र के पण्डित के लिये परम उपयोगी है।

इतिहास शास्त्र

इतिहास शास्त्र के अध्ययन में भी मनोविज्ञान अपनी पूरी सहायता देता है। इतिहास व्यक्तियों अथवा जातियों की बीती का व्योरा है अर्थात् क्रियात्मक दृष्टि से मनुष्य के जातिय आचरण की व्याख्या है। जातीय आचरण का समझना मनोविज्ञान की सहायता के बिना नहीं हो सकता। अतः इतिहास लेखकों के लिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि वह मनोविज्ञान से परिचित हों। जिन मानुषी घटनाओं का संग्रह कर के एक इतिहास वेता परिणाम निकालता है उन मानुषी घटनाओं का समझना मनुष्य के मन की आलोचना किये बिना कैसे हो सकता है?

अर्थ शास्त्र

अर्थ शास्त्र के प्रारम्भिक लेखकों ने मनोविज्ञान के अध्ययन से विमुख हो कर अपने शास्त्र को नीरस बना दिया था। यन्त्रों तथा मशीनों की उत्पात्ति, भिन्न २ व्यवसायों का आय व्यय तथा पूंजी, भूमि, श्रमी इत्यादि

की निरन्तर आलोचना करते २ उन्होंने मनुष्य की मानसिक विवेचना का सर्वथा अपने क्षेत्र से परित्याग कर दिया था। इसी लिये कारलाईल आदि अनेक गम्भीर लेखकों ने इस शास्त्र की कड़ी टीका की है। परन्तु अर्थ शास्त्र के आधुनिक पण्डित यह अनुभव करने लग गए हैं कि इस शास्त्र के मूल प्रश्न भी मनोवैज्ञानिक ही हैं। "मूल्य तथा मानवीय आवश्यकताएं आदि बातें अधिकांश मानसिक ही है"। नवीन सम्पत्ति शास्त्र के लेखक इस सम्बन्ध को अनुभव कर के अब इस शास्त्र के मनोवैज्ञानिक आधार पर अधिक बल पूर्वक लिखने लग गए हैं।

शिक्षाविज्ञान

मनोविज्ञान का सबसे अधिक ऋणी शिक्षा विज्ञान है। अध्ययन और अध्यापन दोनों ही मनोवैज्ञानिक क्रियाएं हैं। इनका भली प्रकार समझना वास्तव में तभी हो सकता है, जबकि शिक्षाविज्ञान में मनोविज्ञान का क्रियात्मक प्रयोग दर्शाया जाए। आधुनिक शिक्षणालयों में शिक्षा और मनोविज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध दिन प्रतिदिन अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है। मनोविज्ञानवेत्ता शिक्षा के प्रश्नों की ओर अधिक ध्यान देने लगे हैं। दूसरी ओर शिक्षा विज्ञान के पण्डित मनोवैज्ञानिक खोजों से अधिक लाभ उठाने लगे हैं। इन विज्ञानों के अतिरिक्त कई व्यवसाय वालों ने भी अपने व्यवसायों की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिये मनोविज्ञान से खूब लाभ उठाया है। जैसे चिकित्सक लोग, वकील, धर्मोपदेशक, न्यायाधीश, तथा विज्ञापक आदि॥

तीसरा अध्याय

नाड़ी संस्थान—Nervous System.

शरीर और आत्मा में घनिष्ट सम्बन्ध है। मानसिक व्यापारों को समझने के लिये शरीर की रचना का थोड़ा बहुत ज्ञान आवश्यक है। शरीर मांस के भिन्न २ टुकड़ों का साधारण जोड़ ही नहीं अपितु एक क्रम-बद्ध नाड़ी नस आदि की सुगठित रचना है। यह एक प्रकार का अङ्गी अथवा अवयवी है जिसके आधीन कई अङ्ग प्रत्यङ्ग मिलकर ऐक्यभाव को प्रकट करते हैं। यह शरीर अनेक तन्तुओं तथा कोष्ठों से मिलकर बना है। इन्हीं तन्तुओं तथा कोष्ठों की क्रियाओं के साथ मानसिक व्यापार सम्बद्ध रहते हैं। नाड़ी संस्थान इसी शरीर रूपी पिंड की वैज्ञानिक परिभाषा है। यह नाड़ी संस्थान हमारी चेतनता को प्रकाशित करने का एक आवश्यक साधन है। प्रत्येक मानसिक व्यापार के साथ कोई न कोई शारीरिक व्यापार सहचारी होता है। आशा, निराशा, सुख, दुःख, शोक, इत्यादिक मानसिक व्यापार विशेष शारीरिक व्यापारों के सहचारी नज़र आते हैं। जब हमारी आत्मा वाह्य जगत में कोई कार्य उत्पन्न करना चाहती है अथवा जब वाह्य जगत हमारी आत्मा को प्रभावित करना

चाहता है। तो इस के लिये साधन रूप नाड़ी संस्थान ही बनता है।

हमारे शरीर में चारों ओर अनेक तन्तु फैले रहते हैं। जो वाह्य जगत के प्रभावों को आत्मा तक पहुंचाते हैं। तथा आत्मा की आज्ञाओं को बाहिर पहुंचाते हैं। शरीर में तन्तुओं की रचना की यदि समता ढूंढनी चाहो तो तार घर के दृश्य को अपनी मानासिक चक्षुओं के सामने लाओ। जिस प्रकार एक तार घर से अनेक तारें बाहिर जाती तथा अन्दर आती हुई नज़र आती है और जिस भान्ति वे उस तारघर में अनेक स्थानों से आदेश लाती हैं और अनेक स्थानों को आदेश ले जाती हैं, ठीक उसी प्रकार यदि हमारे मस्तिष्क को तार घर मान लिया जावे तो उस में अनेक तन्तु वाह्य शरीर में जाते हुए, आदेश लाते और आदेश ले जाने का कार्य करते हुए प्रतीत होते हैं। शरीर-विज्ञान के अध्ययन से हमें विदित होता है कि इन तन्तुओं की रचना युगल रूप से होती है। प्रत्येक युगल में दो तन्तु रहते हैं। एक तन्तु का कार्य बाहिर से मस्तिष्क की ओर प्रभावों को ले जाना होता है। और दूसरे का कार्य मस्तिष्क से आदेश बाहिर पहुंचाना होता है। पहिले प्रकार के मज्जा तन्तुओं को अभिगामी अथवा ज्ञानवाहक (Sensory nerves) तन्तु कहते

आत्मा का वाह्य जगत के साथ सम्बन्ध कैसे जुडता है

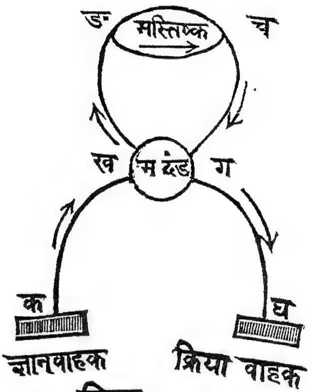
हैं। दूसरे प्रकार के मज्जा तन्तुओं को उद्गामी अथवा क्रियावाहक (Motor nerves) तन्तु कहते हैं।

जो तन्तु शरीर के दूरवर्ती भागों से चलकर मस्तिष्क की ओर प्रभावों को ले जाते हैं उन को प्रायः "मार्गवर्ती कोष्ठ समूहों" (Ganglias) से शक्ति का ग्रहण करना पड़ता है। क्यों कि इस के बिना वे उन प्रभावों को इतनी दूर तक ले जाने का सामर्थ्य नहीं रखते। इन में से कई कोष्ठ समूह छोटे २ मस्तिष्कों का कार्य करते हैं। अर्थात् शरीर के कई अङ्गों की क्रियाओं को स्वतन्त्र रूप से नियन्त्रित करते रहते हैं। परन्तु उन का यह नियन्त्रण साधारण तथा मुख्य मस्तिष्क के सामान्य निरीक्षण के आधीन ही रहता है। जिस प्रकार एक प्रान्तिक शासन शक्ति के आधीन कई ज़िले अथवा म्यूनस्पिल कमेटियां कार्य करती रहती हैं ताकि शासन के छोटे २ कार्यों से मुक्त होकर प्रान्तिक शक्ति अपना समय बड़े २ कार्यों में लगा सके। ठीक उसी प्रकार यह कोष्ठ समूह शारीरिक शासन में मस्तिष्क को साधारणतया छोटे मोटे नियन्त्रण के कार्य से मुक्त रखते हैं ताकि वह अन्य आवश्यक चिन्तन के कार्य में लग सके। जो क्रियाएं इन कोष्ठ समूहों के आधीन रहती हैं उन को प्रति क्रिया अथवा सहज क्रिया के नाम से पुकारते हैं। यहां पर यह स्मरण

अवश्य रखना चाहिये कि अन्ततः शरीर का सारा शासन मस्तिष्क के आधीन ही होता है।



चित्र १

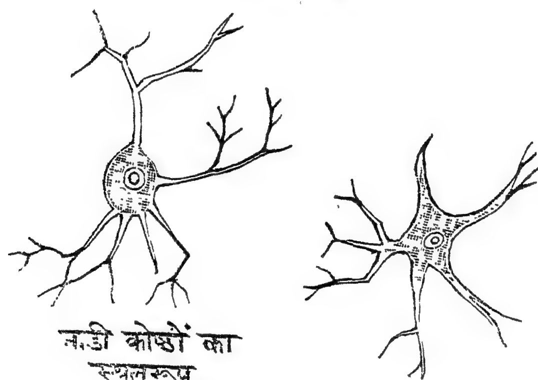


चित्र २

पहिले चित्र में ज्ञान तन्तु तथा क्रिया तन्तु का वह प्रयोग दिखलाया गया है कि जिस के द्वारा बोधपूर्वक क्रिया उत्पन्न होती है अर्थात् ज्ञान तन्तु मस्तिष्क में वाह्य प्रभाव को पहुंचाता है और वहां से क्रिया तन्तु आदेश ले कर प्रति क्रिया रूप में प्रसारित होता है। दूसरे चित्र में दोनों प्रकार की क्रियाएं प्रकट की गई हैं अर्थात् बोध पूर्वक और अबोध पूर्वक। एक अवस्था में ज्ञान तन्तु मास्तिष्क तक पहुंच कर क्रिया तन्तु को उत्तेजित कर रहे हैं और दूसरी अवस्था में ज्ञान तन्तु मस्तिष्क तक न पहुंच कर नीचे से ही मेरू में से अपने संचलन को

क्रिया तन्तु को सौंप देते हैं। इस दूसरी अवस्था में जो क्रिया उत्पन्न होती है उस में ज्ञान का अंश सम्मिलित नहीं होता। सब स्वभाविक क्रियाएं इसी प्रकार की होती हैं।

चित्र ३



नाड़ी संस्थान के विभाग

नाड़ी संस्थान के दो मुख्य विभाग हैं

१—केन्द्रीय अथवा मस्तिष्क-दण्ड संस्थान (Cerebro-Spinal System)।

२—जीवन योनि संस्थान (Sympathetic System)।

केन्द्रीय संस्थान पुनः निम्न विभागों में विभक्त हो जाता है-

(क) मेरुदण्ड=Spinal Cord.

(ख) मज्जा दण्ड मूल=Medulla Oblongata.

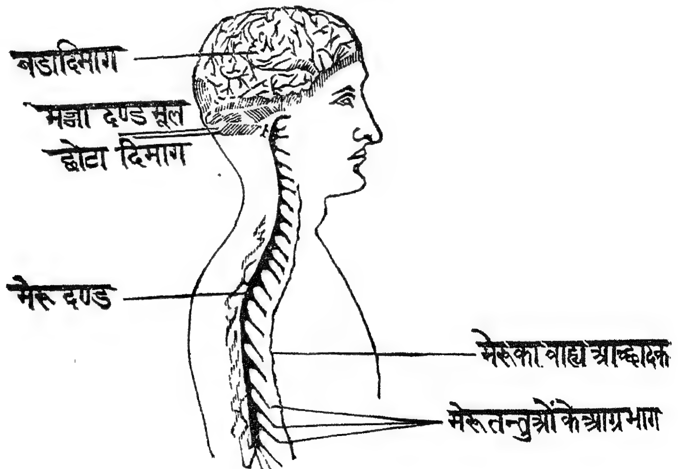
(ग) छोटा दिमाग़=Cerebellum.

(घ) बड़ा दिमाग़=Cerebrum.

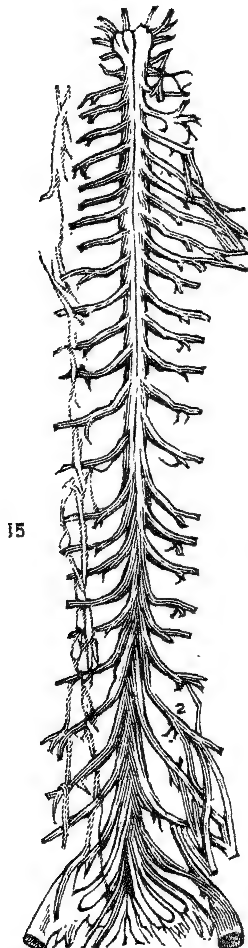
(ङ) सेतु=Pons varolii.

जीवन योनि संस्थान रीढ़ की हड्डी के दोनों ओर रहता है। यहां से कई तन्तु दिल, फेफड़े और अमाशय की ओर फैले रहते हैं। इन अङ्गों की क्रियाएं अधिकांश इसी संस्थान की

चित्र संख्या ४

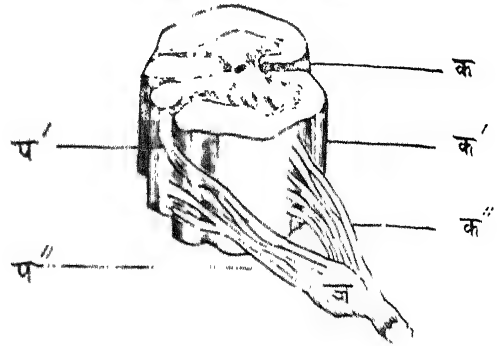


मेरू दण्ड



चित्र संख्या ५

चित्र संख्या ६



क = अग्रिम दरार=Anterior fissure

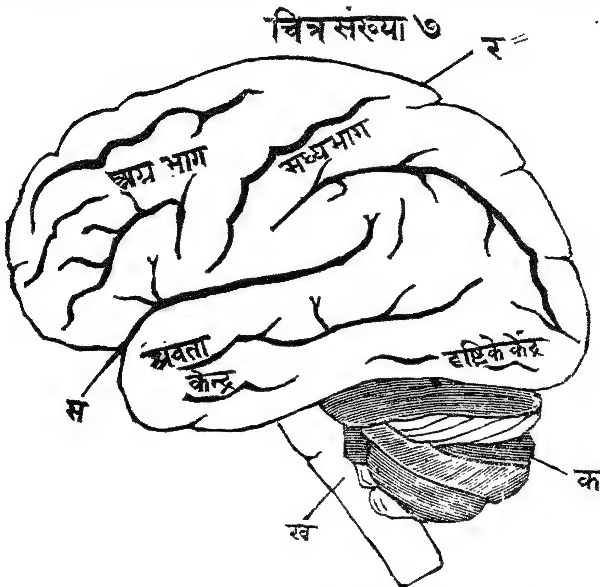
क′ = तन्तु का अग्रभाग ।

क″ = क्रिया वाहक तन्तु ।

प′ = तन्तु का पृष्ट भाग ।

प″ = ज्ञान वाहक तन्तु ।

ज = मेरु कांष्ठ समूह ।



मस्तिष्क का एक पार्श्व इस चित्र में दिखाया गया है।
ऊपर वाला भाग जिस में दरारें नज़र
आती हैं यह बड़ा मस्तिष्क है।

क, छोटा मस्तिष्क है।

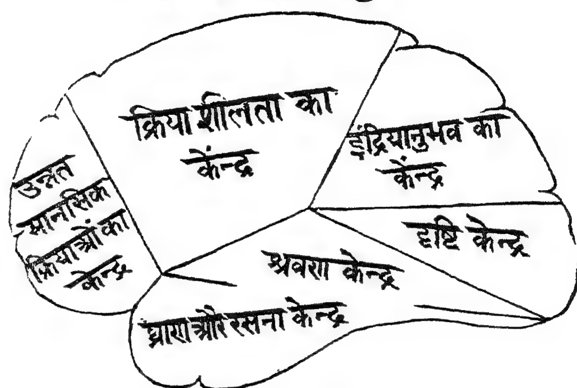
ख, मज्जा दण्ड मूल।

र, रोलैन्डों की दरार।

स, सिलवियस की दरार।

मस्तिष्क में यह दो मुख्य दरारें हैं।

चित्र संख्या ६



नियन्त्रण में होती हैं। यतः यह संस्थान हमारी जीवन अथवा प्राण क्रियाओं का ही स्वामी है और मानसिक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध नहीं रखता अतः इसका अधिक विवरण यहां अपेक्षित नहीं।

मेरुदण्ड और उसका कार्य

चित्र संख्या चार और पांच में मेरुदण्ड का स्वरूप दिखलाया गया है। इस को रीढ़ भी कहते हैं। मेरूदण्ड में एक प्रकार का मादा रहता है जिस की अन्तरीय रचना नाड़ी कोष्ठों से तथा वाह्य रचना तन्तुओं से होती है। इन तन्तुओं तथा कोष्ठों का भेद उनके रङ्ग से किया जाता है। तन्तुओं का रङ्ग श्वेत और कोष्ठों का रंग भूरा होता है। मेरुदण्ड शरीर के वाह्य भागों तथा मस्तिष्क के बीच में

सम्बन्ध जोड़ने के लिये माध्यम का कार्य करता है। इस में से इकतीस युगल तन्तुओं के मास्तिष्क की ओर जाते हैं। यह तन्तु शरीर के वाह्य भागों के साथ भी सम्बद्ध रहते हैं। इन तन्तुओं का कार्य वाह्य प्रभावों को मस्तिष्क की ओर ले जाना और वहां से आदेश वाह्य भागों की ओर ले आना होता है। इन्हीं तन्तुओं में से कुछ ज्ञान वाहक और कुछ क्रिया वाहक होते हैं। यदि क्रिया तन्तुओं को हानि पहुंच जावे तो मनुष्य शरीर क्रिया शून्य हो जाता है। शरीर पर मक्खी बैठ जाने का ज्ञान रखते हुए भी हम उसके निराकरण के लिये उपरोक्त दशा में शरीर के अङ्गों द्वारा क्रिया का संचार नहीं कर सकते। इसी प्रकार यदि ज्ञान तन्तुओं को कोई हानि पहुंच जावे तो हमें शरीर के सुख दुःख का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता यद्यपि हम क्रिया तन्तुओं की सहायता द्वारा अपने शरीर को हर प्रकार की गति दे सकते हैं। यदि मेरूदण्ड स्वयमेव किसी प्रकार बिगड़ जावे तो वाह्य प्रभावों का मस्तिष्क तक पहुंचना सर्वथा असम्भव हो जाता है। चित्र संख्या ६ में मेरूदण्ड के एक भाग का स्थूल स्वरूप दिखलाया गया है।

मज्जा दण्डमूल चित्र संख्या ६ में इस का स्वरूप दिखलाया गया है। चित्र संख्या ७ में "ख" द्वारा भी उसी को प्रकट किया गया है। मज्जा दण्डमूल वास्तव में मेरूदण्ड के उपरीय

भाग को कहते हैं जो खोपड़ी में प्रविष्ट हो कर विस्तृत हो जाता है। यह भाग यद्यपि असली दिमाग का कोई अवयव नहीं तथापि हमारे शरीर की रचना में यह एक आवश्यक अङ्ग का स्थान लेता है। श्वासोच्छ्वास, रक्त संचलन तथा आमाशय की क्रिया आदि जीवन योनि संस्थान के सब कार्य इसी के आधीन रहते हैं। तनिक विचार कीजिये यदि हमारी जीवन की स्थिति का निर्भर विचार शक्ति के आधीन होता तो हमारी गति क्या होती? सम्भव है हम किसी समय अपने दिल का धड़काना, श्वासोच्छ्वास का जारी रखना तथा रक्त का संचार भूल जाते। उस समय हमारे प्राणों की इति श्री हो जाती। प्रकृति देवी ने इस जीवन योनि प्रयत्न को हमारे मस्तिष्क के आधीन न रख कर उसे एक ऐसे अङ्ग के आधीन कर दिया हैं। जो अपना कार्य दिन रात हमारी इच्छा या अनिच्छा की परवाह न करता हुआ जारी रखता है। परन्तु यदि हम चाहें तो किसी हद तक अपनी संकल्प शक्तिके द्वारा श्वासोच्छ्वास का नियमन भी इच्छानुसार कर सकते हैं। जैसे प्राणायाम आदिक क्रियाओं में देखा जाता है। अपने दिल की धड़कन की नियमित गति में भी हम हस्तक्षेप कर सकते हैं। और आमाशय की पचन क्रिया को भी कई अनावश्यक पदार्थों के खाने तथा असमय भोजन करने आदि दुर्व्यवहारों से बिगाड़ सकते हैं।

यह चित्र संख्या ७ में "क" के द्वारा प्रदर्शित किया गया है, मस्तिष्क का यह भाग पीछे की ओर गले से कुछ ऊपर और बड़े दिमाग से कुछ नीचे एक कान से दूसरे कान तक फैला रहता है। यह वाएं और दाएं दो अर्धवृत्तों में बट कर मज्जा दण्ड मूल के दोनों ओर लिपटा रहता है। छोटे और बड़े दिमाग़ के मादे की रचना भिन्न होती है। इन में भूरा मादा बाहर और श्वेत तन्तु अन्दर की ओर रहते हैं। यह सारा मादा खोपड़ी में सुरक्षित रहता है। जिसमें उसे फैलने के लिये पर्याप्त स्थान मिलता है। छोटे दिमाग़ का कार्य पट्ठों की गति का नियमन तथा सारे शरीर का वशीकरण होता है। यदि उसे किसी प्रकार की हानि पहुंच जावे तो मनुष्य अपनी शारीरिक हरकतों को वश में नहीं कर सकता और चलते, फिरते, आगे, पीछे, दाएं, बाएं गिरने लगता है। मादक पदार्थों का सेवन प्रायः छोटे दिमाग़ को ही प्रभावित करता है इसी लिये शराबी अपने आप को स्थिर नहीं रख सकता, इधर उधर डगमगाता है।

छोटा दिमाग तथा उस का कार्य

मस्तिष्क का यह भाग हमारी खोपड़ी में सब से अधिक स्थान घेरता है। आगे भौओं के पाससे चल कर पीछे की गुमड़ी (उभरा हुआ भाग) तक फैला रहता है। यह भी दो अर्ध वृत्तों में बटा रहता है। एक दाएं

बड़ा दिमाग तथा उसका कार्य

ओर, और दूसरा वाएं ओर रहता है। दोनों के बीच में एक सीधी लम्बी दरार होती है। जो मस्तिष्क के सामने से नीचे तक चली जाती है। इसी प्रकार दो और बड़ी दरारें मस्तिष्क के विभाग करती हैं। एक आंख के पास के स्थान से पीछे और ऊपर की ओर जाती है। जिसे सिलवियस की दरार कहते हैं। दूसरी सिर की चोटी के मध्य के निकट से नीचे और सामने की ओर जाती है। और सिलवियस की दरार को लगभग छूती हुई नज़र आती है। इस दूसरी दरार का नाम रोलैण्डों की दरार है। मस्तिष्क का यह भाग चित्र संख्या ७ में दिखलाया गया है। चित्र संख्या ८ में मस्तिष्क के भिन्न २ विभाग दिखलाए गए हैं जिन में कोष्ठों की क्रिया द्वारा भिन्न २ मानसिक व्यापारों का संचार होता है। मनोवैज्ञानिकों का यह विभागीकरण अधिकांश कल्पित है। निश्चयात्मक रीति से अभी तक यह नहीं कहा जा सकता कि मस्तिष्क में कौन २ मानसिक व्यापार किस २ भाग के कोष्ठों की गति द्वारा पैदा होते हैं। हां इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हमारी मानसिक क्रियाएं बड़े दिमाग़ की सहायता द्वारा ही सम्भव होती हैं।

सेतु — यह भाग देखने में एक पुल के समान नजर आता है। जो छोटे दिमाग़ के दोनों भागों के ऊपर छाया रहता है।

नाड़ी संस्थान का संक्षिप्त वृत्तान्त ऊपर दिया जा चुका है। यह भी साथ ही बतलाया गया है कि नाड़ीसंस्थान के द्वारा ही वाह्य जगत के साथ आत्मा अपना सम्बन्ध जोड़ती है। यहां पर पुनः एक उदाहरण से हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि बाह्य जगत की घटनाओं का हमें ज्ञान कैसे उपलब्ध होता है। मुझ से थोड़ी दूर एक ढोल बज रहा है, और मैं उसके शब्द को सुन रहा हूँ। यह शब्द का ज्ञान मुझे कैसे प्राप्त हो रहा है? इस प्रश्न का उत्तर दैहिक मनोविज्ञान इस प्रकार देता है। बजता हुआ ढोल वायु में अनुकम्पन पैदा करता है। वह अनुकम्पन चारों ओर से आकर मेरे कानों के पड़दों पर टकराते हैं और उनमें भी अनुकम्पन पैदा करते हैं। यहां से कानों की अन्तरीय विशेष रचना (जिस का वर्णन श्रवणेन्द्रिय की व्याख्या के प्रकरण में होगा) से वे अनुकम्पन गुजर कर ज्ञान तन्तुओं को उत्तेजित करते हैं। यह तन्तु मस्तिष्क के विशेष कोष्ठों के जागरण से शब्द का ज्ञान पैदा करते हैं। यदि वायु के अनुकम्पन, संख्या में बहुत थोड़े हों तो उसी अनुपात में शब्द धीमा सुनाई देगा। शब्द-ज्ञान होने पर क्रिया तन्तुओं को आदेश मिलता है। और वह हमारे पठ्ठों आदि में गति उत्पन्न करते हैं और हम उस ढोल के निकट अथवा दूर चल देते हैं। हम यह पहिले लिख चुके हैं कि यह जरूरी नहीं कि तन्तुओं का सञ्चलन मस्तिष्क तक ही पहुँचे। निःसन्देह संचलन

के मस्तिष्क में पहुँचने पर जो क्रियाएं उत्पन्न होती हैं वह ज्ञान-पूर्वक क्रियाएं कहलाती हैं। परन्तु कई वार ऐसा भी होता है कि मस्तिष्क में पहुंचने से पूर्व ही वह संचलन क्रिया तन्तुओं के द्वारा क्रिया रूप में प्रकट हो जाता है। इस प्रकार की क्रिया स्वाभाविक या अनैच्छिक कहलाती है। यह भी दर्शाया जा चुका है कि मस्तिष्क नियन्त्रण का कुछ कार्य मेरुदण्ड वर्ती कोष्ठ समूहों के आधीन कर देता है। और स्वयं आवश्यक कार्यों के करने तथा उनके निरीक्षणार्थ प्रवृत्त होता है। यही कारण है कि जब हम भ्रमणार्थ किसी ओर चल पड़ते हैं तो यह आवश्यक नहीं कि हम प्रत्येक कदम सोच कर ही उठावें। एक वार जब हमारा शरीर गति में आ जाता है तो हम अपने मन को जहां चाहें, जिधर चाहें, गति में लगा देते हैं, समीप वर्ती मित्रों से बातें करना, पक्षियों के अलाप सुनना, तथा वृक्षों और पुष्पों का अवलोकन यह सब कार्य चलते २ हो रहे होते हैं। यह सब कुछ मेरु दण्डवर्ती कोष्ठों की नियन्त्रणा शक्ति का फल हैं।

यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उपरोक्त उदाहरण में जिस स्वाभाविक क्रिया का वर्णन किया गया है। वह अभ्यासार्जित है, अभ्यास द्वारा उपलब्ध की गई हैं। बच्चा जब चलना सीखता है तो आरम्भ में उसको अपना सारा मन

उसमें लगाना पड़ता है। शरीर को थामना तथा अङ्गों को वश में रखना यह कार्य उस के पूरे प्रयत्न के फल हैं। अभ्यास शनैः २ उसको चलने में निपुण कर देता है। और फिर चलना उसके लिये अति साधारण कार्य हो जाता है। परन्तु मनुष्य में ऐसी भी स्वाभाविक क्रियाएं पाई जाती हैं। जो किसी अभ्यास का फल नहीं होतीं, जैसे जन्मते ही बच्चों का माता के स्तनों को ग्रहण करना, रोना, हंसना इत्यादि अनेक चेष्टाएं।

शरीर और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध

आत्मा और शरीर का परस्पर सम्बन्ध क्या है? यह प्रश्न मनोविज्ञान के क्षेत्र में जटिल प्रश्नों में से एक है। यद्यपि यह प्रश्न अन्तिम सत्तावाद (Metaphysics) का है तथापि मनोविज्ञान के पण्डितों ने अपनी २ सम्मति इस प्रश्न के सम्बन्ध में कहीं २ प्रकट करनी उचित समझी है। मनुष्य साधारणतया शरीर और आत्मा की सम्मिलित घटना का नाम है, इस सम्मिलित घटना के अवयवों (शरीर और आत्मा) का जो लोक भेद करते हैं उन्हें इनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में निज सम्मति का प्रकाश करना ही पड़ता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रत्यक्षात्मक दृष्टि से आत्मा से हम ने तात्पर्य मानसिक व्यापारों का लिया है अतः यहां पर यह प्रश्न इस रूप में उठाया

के मस्तिष्क में पहुँचने पर जो क्रियाएं उत्पन्न होती हैं वह ज्ञान-पूर्वक क्रियाएं कहलाती हैं। परन्तु कई बार ऐसा भी होता है कि मास्तिष्क में पहुंचने से पूर्व ही वह संचलन क्रिया तन्तुओं के द्वारा क्रिया रूप में प्रकट हो जाता है। इस प्रकार की क्रिया स्वाभाविक या अनैच्छिक कहलाती है। यह भी दर्शाया जा चुका हैं कि मस्तिष्क नियन्त्रण का कुछ कार्य मेरुदण्ड वर्ती कोष्ठ समूहों के आधीन कर देता है। और स्वयं आवश्यक कार्यों के करने तथा उनके निरीक्षणार्थ प्रवृत्त होता है। यही कारण है कि जब हम भ्रमणार्थ किसी ओर चल पड़ते हैं तो यह आवश्यक नहीं कि हम प्रत्येक कदम सोच कर ही उठावें। एक वार जब हमारा शरीर गति में आ जाता है तो हम अपने मन को जहां चाहें, जिधर चाहें, गति में लगा देते हैं, समीप वर्ती मित्रों से बातें करना, पक्षियों के अलाप सुनना, तथा वृक्षों और पुष्पों का अवलोकन यह सब कार्य चलते २ हो रहे होते हैं। यह सब कुछ मेरु दण्डवर्ती कोष्ठों की नियन्त्रण शक्ति का फल हैं।

यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उपरोक्त उदाहरण में जिस स्वाभाविक क्रिया का वर्णन किया गया है। वह अभ्यासार्जित है, अभ्यास द्वारा उपलब्ध की गई हैं। बच्चा जब चलना सीखता है तो आरम्भ में उसको अपना सारा मन

उसमें लगाना पड़ता है। शरीर को थामना तथा अङ्गों को वश में रखना यह कार्य उस के पूरे प्रयत्न के फल हैं। अभ्यास शनैः २ उसको चलने में निपुण कर देता है। और फिर चलना उसके लिये अति साधारण कार्य हो जाता है। परन्तु मनुष्य में ऐसी भी स्वाभाविक क्रियाएं पाई जाती हैं। जो किसी अभ्यास का फल नहीं होतीं, जैसे जन्मते ही बच्चों का माता के स्तनों को ग्रहण करना, रोना, हंसना इत्यादि अनेक चेष्टाएं।

शरीर और आत्मा का परस्पर सम्बन्ध

आत्मा और शरीर का परस्पर सम्बन्ध क्या है? यह प्रश्न मनोविज्ञान के क्षेत्र में जटिल प्रश्नों में से एक है। यद्यपि यह प्रश्न अन्तिम सत्तावाद (Metaphysics) का है तथापि मनोविज्ञान के पण्डितों ने अपनी २ सम्मति इस प्रश्न के सम्बन्ध में कहीं २ प्रकट करनी उचित समझी है। मनुष्य साधारणतया शरीर और आत्मा की सम्मिलित घटना का नाम है, इस सम्मिलित घटना के अवयवों (शरीर और आत्मा) का जो लोक भेद करते हैं उन्हें इनके परस्पर सम्बन्ध के विषय में निज सम्मति का प्रकाश करना ही पड़ता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रत्यक्षात्मक दृष्टि से आत्मा से हम ने तात्पर्य मानसिक व्यापारों का लिया है अतः यहां पर यह प्रश्न इस रूप में उठाया

जा सकता है कि मानसिक व्यापारों का हमारे शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्बन्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में तीन वाद प्रसिद्ध हैं।

१—अन्योन्या श्रयवाद=Theory of Interaction.

२—एकपाक्षिक क्रियावाद=Theory of one-sided action.

३—मनोदैहिक सहचारवाद=Psycho Physical Parallelism.

अन्योन्याश्रयवाद लोक प्रचलित वाद है, यह हमारी साधारण बुद्धि को अभिप्रेत है इस वाद के अनुसार शरीर और आत्मा दोनों एक दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं अर्थात् मास्तिष्क में होने वाले कोष्ठ व्यापार अथवा शारीरिक व्यापार मानसिक व्यापारों को उत्पन्न कर सकते हैं और विपरीत इस के मानसिक व्यापार भी शारीरिक व्यापारों की उत्पत्ति का कारण बन सकते हैं। "लैड" महाशय ने अपने दैहिक मनोविज्ञान नामी पुस्तक पृष्ठ १८२ (Ladd—Physiological Psychology, page 182) में शरीर और आत्मा के अन्योन्याश्रय में कई प्रमाण दिये हैं जिन का संक्षिप्त उल्लेख हम यहां पर करते हैं।

१—साधारणतया मास्तिष्क का परिमाण हमारे मानसिक कार्यक्षमता के साथ सम्बन्ध रखता है। यूरोप के पुरुषों का

औसत दर्जे का दिमाग़ ४६ से ५२ औंस तक होता है। स्त्रियों का दिमाग़ ४२ से ४६ औंस तक। बायिरन कवि का दिमाग़ ७६ औंस का था। क्रौमवेल का ७८'८ औंस। वैबस्टर का ५३'५। विशेष अवस्थाओं में कभी २ ऐसा भी देखने में आया है कि असाधारण मानसिक शक्तियां रखने वाले मनुष्यों के दिमाग़ का परिमाण औसत से भी नीचे दर्जे का पाया गया है। यद्यपि यह आवश्यक नहीं तो भी यह परिमाण न्यायप्राप्त प्रतीत होता है कि बड़े परिमाण वाला और आरोग्य मस्तिष्क अधिक मानसिक शक्ति का निर्देशक तथा बोधक होता है। पागलों के दिमाग़ औसत दर्जे से भी बहुत नीचे होते हैं, ३० औंस तथा इस से न्यून परिमाण वाले पागल पाए गये हैं।

२–दिमाग़ की बिमारियां मानसिक कार्य-क्षमता को नाश करने वाली अथवा उसे न्यून करने वाली होती हैं।

३–विविध प्रकार की औषधियां भी हमारी मानसिक शक्तियों को बढ़ाने अथवा घटाने का कारण बनती हैं।

४–दिमाग़ पर यदि जोर से आघात पहुंचाया जावे तो हमारी चेतना गड़बड़ा जाती है। इसी प्रकार यदि रक्त का संचलन दिमाग़ की ओर जाना बन्द हो जावे तो मनुष्य अचेतन हो जाता है।

५–परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध करने का उद्योग किया गया है कि दिमाग़ के विशेष भाग विशेष मानसिक शक्तियों

के साथ सम्बद्ध हैं। और उन भागों को किसी प्रकार की हानि पहुँचने पर उन मानसिक शक्तियों को भी हानि पहुँचती है।

अन्योन्याश्रय के दूसरे पक्ष में प्रमाण

उपरोक्त प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध होता है कि मानसिक शक्तियां हमारे दिमाग या शरीर की अवस्था पर आश्रित रहती हैं। अब दूसरी ओर यह दिखलाना बाकी है कि हमारे मानसिक व्यापार हमारे शरीर या मस्तिष्क को भी प्रभावित कर सकते हैं।

१–निरन्तर चिन्तन शीलता अथवा दिमाग़ी परिश्रम शरीर को थका देता है, हमारे शरीर की मांस पेशियों को नाश कर देता है।

२–हमारे सुख दुःखात्मक मानसिक व्यापार शरीर पर अपना पूरा प्रभाव जमाते हैं। हर्ष-समाचार पाकर हमारा शरीर हृदयोल्लास से पुलकित हो जाता है। इसी प्रकार दुःख का समाचार पाकर शरीर कम्पायमान हो जाता है। उदासीनता पाचन शक्ति को बिगाड़ देती है। चिन्ता शरीर को क्षीण कर देती है। क्रोध रक्त को विषमय बना देता है। इसी प्रकार निरन्तर ध्यान लगाने तथा अन्य मानसिक शक्तियों के प्रयोग से हमारा मस्तिष्क तथा शरीर दुर्बल हो जाता है। यहां पर पुनः स्मरण कीजिये कि कई शारीरिक व्यापार ऐसे भी होते हैं जिन के सहचारी मानसिक व्यापार नहीं भी होते, जैसे–खांसना,

छींकना, दिलका धड़कना, श्वासोच्छ्वास, आमाशय की क्रिया, नाड़ी का चलना तथा अन्य अभ्यासार्जित क्रियाएं इत्यादि।

अन्योन्याश्रयवाद के पक्ष में कई प्रमाण दिये जा चुके हैं। इस वाद की साक्षी हम सबको अपने साक्षात् अन्तरीय अनुभव से भी ग्रहण होती है। क्योंकि आत्मा और शरीर की परस्पर क्रिया वास्तव में हमारे अन्तरीय अनुभव का विषय है। इस वाद के विरुद्ध जो बड़ी भारी आपत्ति पेश की जाती है वह यह है कि शरीर और आत्मा एक दूसरे से सर्वथा विभिन्न और विसदृश पदार्थ हैं। वे एक दूसरे में परिवर्तन पैदा करने के कारण कैसे बन सकते हैं? दो विसदृश पदार्थों के बीच कार्य कारण का सम्बन्ध कैसे चिन्तन किया जा सकता है? अतः उनकी परस्पर क्रिया असम्भव है। यह सूत्ररूप युक्ति देकर अन्योन्याश्रयवाद का खण्डन कर दिया जाता है परन्तु यहां पर विचारणीय बात यह है कि क्या स्वयं कारणता का सिद्धान्त किसी प्रकार इस वाद का विरोध करता है? क्या इस सिद्धान्त का प्रयोग सदृश पदार्थों के बीच में ही होना चाहिये? कारणता का सिद्धान्त इस स्थापना का समर्थन करता हुआ प्रतीत नहीं होता। कारणता का सिद्धान्त केवल इतना ही प्रकट करता है कि जिस घटना को हम किसी अन्य घटना का कारण कहते हैं वह उस अन्य घटना की नियत पूर्ववर्ती होनी चाहिये तथा अन्यथा-सिद्ध न होनी चाहिये।

कारण के इन आवश्यक गुणों में यह बात नहीं आती कि कारण रूपी घटना कार्य रूपी घटना के सदृश होनी चाहिये, और व्यवहार सिद्ध भी यही बात है कि जिन घटनाओं के बीच में कारणता का सम्बन्ध हम जोड़ते हैं, वे आवश्यक नहीं कि सदृश घटनाएं हों। एक आदमी को सुखी देख कर एक ईर्षालु के मन में दुःख पैदा हो जाता है परन्तु सुखी मनुष्य और दुःख का भाव सदृश पदार्थ नहीं हैं। फूल और आल्हाद का भाव भी सदृश पदार्थ नहीं है। क्रोध का भाव मेरे शरीर के अन्दर अनुकम्पन पैदा कर देता है परन्तु क्रोध और अनुकम्पन समान पदार्थ नहीं हैं इत्यादि। अब विवेचनीय केवल इतनी बात रह जाती है कि विसदृश पदार्थों के बीच में कारणता का सम्बन्ध अचिन्त्य है अतः उसकी सत्ता असम्भव है। इस युक्ति के विषय में यह कहना पर्याप्त होगा कि यह आवश्यक नहीं कि जिन बातों को हम अपने चिन्तन में न ला सकें वे ज़रूर ही असम्भव होंगी। आकर्षण शक्ति द्वारा हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ऊपर फैंकी हुई चीज़ें ज़मीन पर आ गिरती हैं। परन्तु पृथिवी पदार्थों को कैसे अपनी ओर खेंच लेती है यह बात हमारे चिन्तन में नहीं आ सकती तो क्या इस लिये हम आकर्षण शक्ति को ही असम्भव ठहराएंगे? कई वैज्ञानिक नियम ऐसे हैं जिन की सत्ता का बोध उनके कार्य्यों से ही हमें प्राप्त होता है, परन्तु उनके स्वरूप का चिन्तन हम

नहीं कर सकते। अन्योन्याश्रयवाद के विरोधियों की उपरोक्त युक्ति के अनुसार हमें ऐसे सब नियमों की सत्ता को असम्भव ठहराना पड़ेगा। यहां पर हमें यह भी विदित होना चाहिये, कि अन्योन्याश्रयवाद के विरोधी इस बात को तो मुक्तकण्ठ से स्वीकार कर लेते हैं कि भौतिक पदार्थों में कार्य कारण के सम्बन्ध का चिन्तन हो सकता है परन्तु क्या उनका यह कथन सत्य है? किसी मूर्त्त उदाहरण को सामने रखकर यदि वह विचार करें कि किस प्रकार कारण कार्य को उत्पन्न करता है तो वास्तविक कठिनाई उनको सूझ पड़ेगी। किस तरह एक दण्डे का आघात शरीर से रक्त बहाने का कारण बन सकता है? इस का सूक्ष्म रीति से चिन्तन नहीं हो सकता। हमारी सम्मति में कारणता का सम्बन्ध चाहे वह सदृश पदार्थों में प्रकट हो रहा हो या विसदृश में, हर जगह मानुषी बुद्धि के सामने एक रहस्य है। जो अभी तक सुलझाया नहीं गया। कारण कार्य को उत्पन्न कर रहा है इस का तो प्रत्यक्ष अनुभव हमें होता है। परन्तु वह कारण कार्य को कैसे उत्पन्न करता है। यह मानुषी चिन्तन से बाहिर है।

शरीर और आत्मा के परस्पर सम्बन्ध के विषय में दूसरी कल्पना एक पाक्षिक क्रियावाद के नाम से प्रसिद्ध है। यह वाद केवल शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों

का कारण मानता है, इसकी सम्मति में आत्मा शरीर की उपज है और कार्यक्षमता शारीरिक व्यापारों में ही रहती है। शारीरिक व्यापार मानसिक व्यापारों अथवा चेतना का फल कदापि नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में यह वाद मानसिक व्यापारों के साथ कारणता का भाव नहीं जोड़ता। चेतना इस वाद के अनुसार मस्तिष्क की विशेष कोष्ठक्रिया का ही नाम है। यह वाद प्रकृति वाद के नाम से भी प्रसिद्ध किया जाता है। इस वाद की निःसारता वर्तमान समय के कई दार्शनिकों ने भली प्रकार प्रकट की है। यहां पर हम केवल उसकी मुख्य भ्रान्ति का वर्णन करेंगे। इस वाद के अनुयाई आत्मा के प्रकृति जन्य होने में मुख्य युक्ति यह देते हैं कि जिस प्रकार पचन हमारे आमाशय की क्रिया का नाम है, और जिस प्रकार श्वासोच्छ्वास हमारे फेफड़ों की क्रिया का नाम है, उसी प्रकार हमारी चेतना (आत्मा) भी मस्तिष्क की कोष्ठक्रिया का ही नाम है। इस युक्ति के विपक्ष में यह आक्षेप किया जा सकता है कि क्रिया शब्द जो द्व्यर्थक है उसका समानार्थक प्रयोग किया गया है। पचन को आमाशय की क्रिया कहना और चेतना को मस्तिष्क की (कोष्ठ-क्रिया) कहना इन दोनों में बड़ा अन्तर है। क्रिया शब्द का यह दो बार का प्रयोग विचार भेद का द्योतक है, जिस को हम यहां स्पष्ट करते हैं। जब हम यह कहते हैं कि पचन आमाशय

की क्रिया का नाम है तो वहां पर हम पचन और आमाशय की क्रिया में भेद नहीं समझते, परन्तु जब हम मास्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का विचार करते हैं। तो उस क्रिया मात्र को हम चेतना नहीं समझते। और जब हम चेतना का विचार करते हैं, तो भी उस समय हमें मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का किसी प्रकार ध्यान नहीं आता। इन दोनों घटनाओं को हम सर्वथा विभिन्न पाते हैं परन्तु आमाशय की क्रिया और पचन यह दो घटनाएं नहीं है, हां एकही घटना के दो नाम अवश्य हैं। इस लिये चेतना को मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया कहना भ्रान्ति मूलक है। इस वाद में एक और आपत्ति यह है कि यह हमारी चेतना में कारण भाव नहीं मानता, अर्थात् शारीरिक व्यापार अथवा मस्तिष्क में कोष्ठ-क्रिया के उत्पन्न करने की शक्ति उस में स्वीकार नहीं करता। इस वाद के अनुसार हमें यह नहीं कहना चाहिये कि मैं अपनी इच्छा के कारण चलता फिरता हूँ, मेरे भाव मेरे शारीरिक परिवर्तनों को पैदा करने वाले हैं, मेरा दुःख मेरी आंखों में आंसू भर लाता हैं इत्यादि। परन्तु यह सब कुछ हमारे प्रत्यक्षानुभव के विरुद्ध मालूम होता है।

अब हम तीसरे वाद की ओर आते हैं। इस वाद का अन्योन्याश्रयवाद तथा भूतचैतन्यवाद से भेद इतना ही

हैं, कि यह केवल घटनाओं की ओर निर्देश कर देता है, परन्तु उनकी व्याख्या की ओर आंख मून्द लेता है। यह वाद इतना ही पर्याप्त समझता है कि शारीरिक तथा मानसिक व्यापारों का उल्लेख कर देवे। परन्तु वह इस बात की आवश्यकता नहीं समझता कि उन के परस्पर सम्बन्ध का व्यर्थ विवाद उठावे। यह वाद अपने आप को मनोदैहिकसहचार वाद के नाम से प्रसिद्ध करता है। उस की स्थापना यह है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में हमें केवल यही स्वीकार कर लेना चाहिये कि मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर सहचारी हैं, और दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। शारीरिक व्यापार शारीरिक व्यापारों को ही, और मानसिक व्यापार मानसिक व्यापारों को ही उत्पन्न कर सकते हैं। यह दोनों प्रकार के व्यापार समानान्तर रेखाओं की तरह एक दूसरे के सम्मुख सर्वदा रहते हैं। उन में किसी प्रकार की परस्पर क्रिया पैदा नहीं होती। जो कुछ परस्पर क्रिया का बोध हमें हो रहा है, वह सब भ्रान्ति मात्र ही है, अतः इन दोनों प्रकार के विसदृश व्यापारों में कारणता का सम्बन्ध चिन्तन नहीं किया जा सकता, अतः मनोविज्ञान के क्षेत्र में उनका केवल सहचार ही स्वीकार करना पर्याप्त है। यह वाद व्याख्या से घबराता है। शरीर और आत्मा के अन्योन्याश्रय के सम्बन्ध में जो प्रमाण दिये जा चुके हैं, उनका सन्तोषजनक समाधान इस

वाद से नहीं बन पड़ता। इसी लिये शरीर और आत्मा में जो प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमें गोचर होता है, उसको माया या आभास कह कर यह टाल देता है। शारीरिक और मानसिक व्यापारों का सहचार भी बिना उनके किसी प्रकार के परस्पर सम्बन्ध को स्वीकार करने के चिन्तन में नहीं लाया जा सकता।

चौथा अध्याय

इन्द्रियानुभव या इन्द्रिय ज्ञान (Sensation)

अब हम मानसिक जीवन की व्याख्या आरम्भ करते हैं। मानसिक जीवन अपने सम्पूर्ण रूप में हमारे अध्ययन का विषय नहीं बन सकता अतः उसका खण्डशः अध्ययन अथवा अवयवों का अध्ययन ही हमारे लिये सम्भव है। देखना, सुनना, सूंघना, स्पर्श करना, चखना, इत्यादि अनुभव साधारणतया हम अपने बाह्य पदार्थों के सम्पर्क से प्राप्त करते रहते हैं। यह अनुभव हमारे मानसिक जीवन की प्रारम्भिक पूंजी है। इन्हें हम इन्द्रियानुभव कहते हैं, ये मानसिक जीवन की अत्यन्त सरल तथा प्राथमिक जीवन का बोध कराते हैं। इन को यदि मानसिक जीवन के परमाणु कहा जावे तो अनुचित न होगा। अपनी सरलता के कारण मानसिक जीवन के इन अंशों का लक्षण करना भी एक कठिन समस्या है, तथापि इन्द्रियानुभवों के विषय में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह वे मानसिक व्यापार हैं जो किसी उद्भावक (Stimulus) द्वारा हमारे देह के उत्तेजित होने से उत्पन्न होते हैं। देह से हमारा तात्पर्य्य जीवित शरीर से है जो चेतन तथा जड़ अंशों का सम्मिलित रूप है तथा परिस्थिति में प्रति-क्रिया करने का

सामर्थ्य रखता है। शरीर में सामान्यतया अनुभव-शीलता की शक्ति विद्यमान रहती है और हमारे शरीर के जो विशेष अङ्ग निश्चित उद्भावकों द्वारा प्रभावित होने से विशेष अनुभव पैदा करते हैं उन को इन्द्रिय कहते हैं। जो प्राणी इन्द्रियानुभवों को प्राप्त करने का सामर्थ्य रखता है वह शरीर या देही कहलाता है।

इन्द्रियानुभव की उत्पत्ति

इन्द्रियानुभव की उत्पत्ति में तीन अवस्थाओं का समावेश होता है। पहिली अवस्था वह है, जब कि भौतिक जगत का हमारे शरीर के साथ किसी प्रकार सम्पर्क होता है, यह सम्पर्क गति के किसी रूप में हमारी इन्द्रियों को उपलब्ध होता है। और वहां पर दूसरी अवस्था का प्रारम्भ होता है। दूसरी अवस्था में हमारे शरीर के तन्तु उस गति को ग्रहण करते हैं और वह संचलन के रूप में उन तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में पहुंच जाती है, मस्तिष्क में पहुंच कर कोष्ठ-क्रिया के द्वारा एक तीसरी अवस्था का प्रादुर्भाव होता है जिस को मानसिक दशा या इन्द्रियानुभव कहते हैं। बाह्य जगत में उद्भावक के स्वरूप का अध्ययन भौतिकी का विषय है शरीर के अन्तर्वर्ती तन्तुओं तथा कोष्ठों की क्रियाओं का अध्ययन शरीर विद्या का विषय है परन्तु मस्तिष्क में कोष्ठ-क्रिया होने पर जो चेतन अवस्थाएं पैदा होती हैं उनका अध्ययन मनोविज्ञान का कार्य है। तन्तु संस्थान जो हमारे मानसिक जीवन का शारीरिक आधार है उस का संक्षिप्त वर्णन पिछले अध्याय में

किया जा चुका है, यहां पर मानसिक जीवन का आन्दोलन ही हमें अभीष्ट है। इन्द्रियानुभवों का कई दृष्टियों से भेद किया जा सकता है।

(क) विशेषता की दृष्टि से। (ख) तीव्रता की दृष्टि से।

इन्द्रियानुभवों के गुण

(ग) स्थिति काल की दृष्टि से। विशेषता से तात्पर्य हम उन गुणों से लेते हैं जो एक ही इन्द्रिय द्वारा कई अनुभवों या भिन्न २ इन्द्रियों के अनुभवों में भेद प्रकट करते हैं। श्रोत्र द्वारा जो शब्द का अनुभव होता है, नासिका द्वारा गन्ध का तथा चक्षु द्वारा रूप वा रंग का जो अनुभव होता है इनका परस्पर भेद उन की अपनी विशेषता के कारण ही है। इसी प्रकार एक ही इन्द्रिय द्वारा कई अनुभवों के भेद जैसे चक्षु द्वारा कई वर्णों के भेद भी उन की अपनी विशेषता के कारण ही होते हैं। अनुभव की तीव्रता से हमारा तात्पर्य्य उस की विस्पष्टता तथा न्यूनाधिक शक्ति से होता है जैसे लैम्प की रोशनी का अनुभव दीपक की रोशनी से अधिक तीव्र होता है। दिन को तारे हमें इस लिये नहीं दीखते क्योंकि उनकी तीव्रता सूर्य के प्रकाश की तीव्रता के आगे मन्द पड़ जाती है। तीव्रता का आधार कुछ तो वाह्य उद्भावक की अपनी शक्ति होती है और कुछ हमारी ध्यान शक्ति भी तीव्रता के अनुभव में सहायक ठहरती है। कई बार देखा जाता है कि ध्यान की एकाग्रता से अनुभव की विस्पष्टता बढ़ जाती है, जैसे

एक चित्र को साधारणतया देखने से उस की सब बरीकियां अनुभव गोचर नहीं होती परन्तु ध्यान को एकाग्र करने से वे उज्वल स्वरूप में प्रकट हो जाती हैं।

अनुभव के स्थिति काल से हमारा तात्पर्य उतने समय से होता है जितने समय तक वह अनुभव रहता है। इस समय का निश्चय अधिकांश उद्भावक के स्थिति काल से किया जाता है। परन्तु वह आवश्यक नहीं कि इन्द्रियानुभव का स्थितिकाल और उद्भावक का स्थिति काल बराबर हो क्योंकि कई वार उद्भावक के दूर हो जाने पर भी उस का इन्द्रियानुभव कुछ समय तक बना रहता है जैसे आकाश में टूटते हुए सितारे की उज्वल रेखा का अनुभव सितारे के लोप हो जाने के कुछ काल पीछे तक भी प्राप्त होता रहता है। कुछ थोड़ा सा समय इन्द्रिय की उत्तेजना से लेकर अनुभव की उत्पत्ति तक भी व्यय होता है। यह समय शारीरिक क्रिया में व्यतीत होता है जो इन्द्रियानुभव की पूर्ववर्ती होती है। दो भिन्न अनुभवों के बीच में भी कुछ न कुछ समय का व्यय होना उन का परस्पर भेद प्रकट करने के लिये आवश्यक है। उदाहरणार्थः-एक जलती हुई दिया-सिलाई को अन्धेरे में शनैः २ घुमाया जावे तो प्रथमतः प्रकाश के पृथक् पृथक् टुकड़ों का अनुभव होगा परन्तु जब उस की गति को बहुत बढ़ा दिया जावे तो एक प्रकाशित वृत्त का हमें अनुभव

होने लगेगा। परन्तु यदि पुनः उस की गति को कम कर दें तो रोशनी के पृथक् पृथक् अनुभव हमें पुनः प्राप्त होने लग जावेंगे।

मिश्रित उद्भावक

उपरोक्त उदाहरण में कई मनोवैज्ञानिक यह कल्पना करने लग जाते हैं, कि प्रकाशित वृत्त का अनुभव वास्तव में रोशनी के पृथक् पृथक् अनुभवों से मिल कर बनता है परन्तु यह बात ठीक नहीं। मनोविज्ञान के क्षेत्र में रसायन शास्त्र के समान सरल अवयवों को मिलाकर एक नया पदार्थ उत्पन्न नहीं किया जा सकता। प्रकाशित वृत्त का अनुभव एक स्वतन्त्र अनुभव है। जब हम मानसिक व्यापारों का परस्पर मिलना तथा उसका एक दूसरे में विलीन होना इत्यादि कहते हैं तो उस को एक अलङ्कारिक भाषा ही समझना चाहिये। मनोविज्ञान रसायन शास्त्र नहीं। वृत्त का अनुभव भी एक ऐसा सरल अनुभव है जैसा कि प्रकाश के पृथक् २ टुकड़ों का। इन इन्द्रियानुभवों के अतिरिक्त अन्य मानसिक सङ्कीर्ण दशाओं, जैसे क्रोध, प्रेम, चिन्ता इत्यादि का ध्यान पूर्वक यदि अवलोकन किया जावे तो उन में कई सम्मिलित मानसिक व्यापारों का भेद किया जा सकता है। इन्द्रियानुभवों में जो मिश्रण का हमें भ्रम होता है वह वास्तव में उन के शारीरिक आधार अथवा उद्भावक के मिश्रण के कारण होता है।

इन्द्रियानुभव की उत्पत्ति के लिये चार बातों की आवश्यकता रहती है। पहिले बाह्य उद्भाव की सत्ता की, दूसरे ज्ञान तन्तु की सत्ता, तीसरे मास्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया को समझने वाली सत्ता, चौथा उद्भावक में शरीर के तन्तुओं को उत्तेजित करने का सामर्थ्य, यह चारों बातें इस बात का प्रतिपादन करती हैं, कि हमारा ज्ञान इन उपरोक्त सीमाओं के अन्तर्गत ही रहता है। उदाहरणार्थः—शब्द का अनुभव जिस के लिये वायु के अनुकम्पन उद्भावक का कार्य देते हैं तभी सम्भव हो सकता है जब वे अनुकम्पन एक विशेष संख्या में हमारे कानों तक पहुंचें। यह संख्या साधारणतया ८ और ६० हज़ार के बीच में नियत की गई है। ८ से कम और ६० हज़ार से ऊपर के अनुकम्पनों की संख्या को हमारे तन्तु ग्रहण नहीं कर सकते।

इन्द्रियानुभव की उत्पत्ति

परीक्षणात्मक मनोविज्ञान

मनो दैहिक विद्या (Psychophysics)

यह हम ऊपर बतला चुके हैं कि इन्द्रियानुभव हमारे शरीर के उद्भावक द्वारा प्रभावित अथवा विषय के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है, साथ ही यह भी बतलाया जा चुका है कि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक उद्भावक हमारे शरीर को प्रभावित करे। यदि मेरी हथेली पर मेरे आंखें मूंद लेने पर कोई रेत का

एक कण रख देवे तो उस के भार का अनुभव मुझे नहीं होता। यदि मेरे निकट ही कोई छोटा सा जन्तु शब्द करे तो उस शब्द का बोध भी मुझे नहीं होता। मेरी हथेली पर जब तक रेत की एक विशेष राशि न रखी जावे तब तक भार का अनुभव मुझे प्राप्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार उस जन्तु का शब्द भी विशेष तीव्रता वाला होना चाहिये ताकि वह मेरे श्रवण का विषय बन सके। इस उपरोक्त विवेचन का यह परिणाम निकलता है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ उद्भावक (विषय) की एक विशेष राशि की अपेक्षा करती है। उस राशि में यदि न्यूनता हो तो अनुभव पैदा नहीं हो सकता। न्यूनसे न्यून जिस उद्भावक की उपस्थिति पर इन्द्रियानुभव पैदा हो जाता है उस को मनोविज्ञान की परिभाषा में "अपरान्त" या "इन्द्रियानुभव का द्वार" (Threshold of sensation) कहा गया है। इसी प्रकार यदि उद्भावक को क्रमशः बढ़ाते चले जावें तो एक विशेष सीमा तक इन्द्रियानुभवों के परस्पर भेदों का ज्ञान हमें होता रहता है, परन्तु उस सीमा के ऊपर यदि उद्भावक को बढ़ाया जावे कोई नया अनुभव पैदा नहीं होगा। इस ऊंची सीमा को "परान्त" (Maximum limit) कहते हैं। उदाहरणार्थः-यदि एक आदमी के सिर पर दश सेर का बोझ डाल दिया जावे, तो उसे भार का अनुभव प्राप्त होगा, अब यदि उस के सिर पर रत्ती भर भार और बढ़ा दिया जावे, तो इस वृद्धि को वह

अनुभव नहीं करेगा। परन्तु यदि एक सेर का बोझ और बढ़ा देवें तो वह अवश्य कहेगा कि यह भार पहिले से भारी है। इसी प्रकार यदि उसके बोझ को बढ़ाते चले जावें तो वह एक विशेष सीमा तक बोझ की क्रमशः वृद्धि को अनुभव करता रहेगा। परन्तु उसके आगे एक सीमा ऐसी उपस्थित होगी जब कि वह बोझ के नीचे दबने लगेगा और वह बोझ उसके लिये असह्य हो जावेगा। उसके पश्चात् यदि बोझ और बढ़ाया जावे तो वह बोझ भी असह्य होगा। पहिले असह्य और दूसरे असह्य बोझ में उसे कोई भेद प्रतीत न होगा, इन्द्रियानुभव की इसी ऊंची सीमा को परान्त कहा गया है और सब से नीची सीमा को अपरान्त। शरीर की अनुभव शीलता इन दोनों सीमाओं क अन्तर्गत ही रहती है। मनोदैहिक विद्या के पण्डितों ने इन दोनों सीमाओं के बीच में अनुभव और उसके उद्भावक की राशि के सम्बन्ध में अनुपात नियत करने के लिये अनेक परीक्षण किये हैं। यह परीक्षण अधिकांश मनोविज्ञान के जर्मन सम्प्रदाय द्वारा ही किये गये हैं। जर्मनी के दो प्रसिद्ध विद्वान् वैबर और फैचनर इस क्षेत्र में अगुआ कहलाते हैं। वैबर महाशय ने इन्द्रियानुभव और उसके उद्भावक की राशि का अनुपात एक सिद्धान्त द्वारा प्रकट करने का यत्न किया है। जिस को वैबरीय नियम कहते हैं। इस नियम का सूत्रपात इस प्रकार किया जाता है "यदि किसी इन्द्रियानुभव

की तीव्रता में अनुभाव्य परिवर्तन लाना अभीष्ट हो तो उसके उद्भावक की राशि को एक निश्चित अनुपात में बढ़ाना चाहिये" उदाहरणार्थः-मान लो कि पहिले इन्द्रियानुभव की तीव्रता १ है अब तीव्रता २, तीव्रता ३, तीव्रता ४, इत्यादि अनुभवों के लिये उद्भावकों की राशि को एक विशेष अनुपात में बढ़ाना पड़ेगा। तीव्रता १ से तीव्रता २ करने में जो उद्भावक की राशि बढ़ी है, उतनी ही राशि के और बढ़ाने से तीव्रता २ वाले अनुभव से तीव्रता ३ वाला अनुभव उपस्थित नहीं हो सकता। उस के लिये पहिले से अधिक राशि की आवश्यकता है परन्तु वह आधिक्य अपने पूर्ववर्ती उद्भावक का वही अनुपात होगा, जिस अनुपात से अनुभव तीव्रता २ अनुभव तीव्रता १ से बढ़ाया गया था।

दबाव के इन्द्रियानुभव में परिवर्तन का चित्रपट

अनुभव तीव्रता १ मान लो ६ रत्ती भार के हथेली पर रखने से उत्पन्न हुआ।

" " २ " ८ " " " " "

अनुपात $=\frac{२}{६}=\frac{१}{३}$

अतः अनुभव तीव्रता ३ पैदा होगा $=८+\frac{८}{३}=८+२\frac{२}{३}=१०\frac{२}{३}$

" " " ४ " " $=\frac{३२}{३}+\frac{३२}{९}=१०\frac{२}{३}+३\frac{५}{९}=१४\frac{२}{९}$

इसी प्रकार दबाओ के अगले अनुभव भी इसी निश्चित अनुपात द्वारा उद्भावक को बढ़ाने से पैदा होंगे। किचनर ने

अपनी पुस्तक (Outlines of Psychology) में लिखा है, कि यह अनुपात भिन्न २ इन्द्रियों के अनुभवों में भिन्न २ राशि में प्रकट होता है। हाथ की अंगुलियों पर दबाव के अनुभव का अनुपात वह $\frac{१}{२०}$ बताता है। शब्द अनुभव के लिये $\frac{१}{३}$ प्रकाश के अनुभव के लिये $\frac{१}{१००}$, गन्धानुभव के लिये $\frac{१}{३}$ या $\frac{१}{४}$, उसकी यह भी सम्मति है कि रंग और रसके अनुभवों के अनुपात वैबरीय नियम के अनुसार निश्चय नहीं हो सकते। परन्तु कई मनोविज्ञान वेता उपरोक्त बतलाए हुए अनुपातों को भी काल्पनिक ही स्वीकार करते हैं।

वैबरीय नियम की आलोचना

वैबरीय नियम मनोविज्ञान के क्षेत्र में उस प्रवृति का द्योतक है जो परीक्षण विधि द्वारा मानसिक जीवन की समीक्षा करना चाहता है। यह प्रवृति अपने आप कोई बुरी चीज नहीं परन्तु इसके पक्षपाती यह अनुभव नहीं करते कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस विधि का अवलम्बन एक निश्चित तथा अल्प सीमा तक ही सम्भव हो सकता है। वह उसके परिणामों को बहुत बढ़ा कर प्रकट करते हैं। वास्तव में उनका मूल्य अभी तक सन्देह की सीमाओं से बाहिर नहीं। वैबरीय नियम पर निम्नलिखित आक्षेप किये जाते हैं।

१—यह नियम मानसिक जीवन के परिमित क्षेत्र में ही लागू हो सकता है हम देख आए हैं, कि इन्द्रियानुभव की परान्त

और अपरान्त दो सीमाएं होती हैं, इन दोनों सीमाओं के अन्तर्गत अनुभवों के परिवर्तनों का ही हमें बोध हो सकता है। उन से ऊपर और नीचे के क्षेत्र में हमें किसी प्रकार का विषयानुभव नहीं होता।

२—जिस परिमित क्षेत्र में यह नियम लागू होता है वहां भी वह सर्वांश में सत्य प्रतीत नहीं होता। प्रथम तो कुछ विशेष इन्द्रियानुभव ऐसे हैं जिन के सम्बन्ध में इस नियम का अन्वेषण अभी तक हो ही नहीं सका जैसे क्षुधा, पिपासा, सुख, दुःख, चिन्ता आदि आन्तर्विषयक अनुभव। दूसरे जिन इन्द्रियानुभवों के सम्बन्ध में इस नियम की स्थापना का प्रयत्न किया गया है वहां पर भी भिन्न २ परीक्षकों के परिणाम एक समान नहीं हैं।

३—जिन इन्द्रियानुभवों के सम्बन्ध में इस नियम का परीक्षण किया जा चुका है वह हमारे मानसिक जीवन का एक अति साधारण भाग है। हमारे भाव, इच्छाएं, संकल्प तथा अन्य मानसिक व्यापार सर्वथा इस प्रकार के वैज्ञानिक परीक्षण से बाहिर रहते हैं।

४—मानसिक व्यापारों की तीव्रता का अन्दाज़ा लगाने में एक और मौलिक आक्षेप यह है कि वैबर और फैचनर के परीक्षणों में यह बात बिना किसी आधार के स्वीकार कर ली गई है कि जब इन्द्रियानुभव की तीव्रता बढ़ती है तो उस का

स्वरूप या गुण नहीं बदलता। परन्तु यह बात अनुभव सिद्ध नहीं दीखती। प्रकाश का अनुभव तथा ताप और शब्द के अनुभव की तीव्रता जब बढ़ती है तो वह अनुभव अपना स्वरूप तथा गुण भी बदल लेता है ....

....

....

५--अन्तिम कठिनाई जो वैबरीय नियम के परिणामों को अनिश्चित तथा अविश्वसनीय बनाती है वह हमारी ध्यान शक्ति तथा मानसिक स्थिति की ओर से उत्पन्न होती है। जब हम किसी इन्द्रियानुभव की तीव्रता के सम्बन्ध में उस के उद्भावक की राशि का अनुपात निश्चय कर रहे हों तो उस समय हमारे ध्यान का होना या न होना परीक्षण में बड़ा भेद लाता है साथ ही परीक्षण करते समय जो हमारी मानसिक स्थिति होती है उस का भी परिणाम पर खास प्रभाव पड़ता है। हमारी उदासीनता तथा प्रसन्नता शारीरिक स्वस्थता तथा अस्वस्थता आदि अवस्थाएं निश्चित परिणाम निकालने में विशेष रूप से बाधक होती हैं।

इन्द्रियानुभव तथा प्रत्यक्ष ज्ञान
Sensation and Perception,

इन्द्रियानुभव को हम ने चेतना की प्राथमिक अवस्था का नाम दिया है अर्थात् वह अवस्था जिस को हम चेतना का जागरण मात्र कह सकते हैं प्रौढ़ावस्था में हम इन्द्रियानुभव की प्राप्ति

नहीं कर सकते। परन्तु हम उन का चिन्तन कर सकते हैं। बाल्यावस्था में ही उनकी प्राप्ति सम्भव है इस समय हमारा सारा इन्द्रियानुभव वास्तव में प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में प्रकट हो रहा है। इन्द्रियानुभव में ज्ञान का अंश लुप्त प्रायः रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रियानुभव पूर्वापेक्षित है परन्तु जहां इन्द्रियानुभव चेतना का केवल जागरण मात्र है वहां प्रत्यक्ष ज्ञान चेतना की एक विस्पष्ट उन्नत ज्ञानावस्था का नाम है। इन्द्रियानुभव में विषय का हमें पृथक् बोध नहीं होता। परन्तु जब इन्द्रियानुभव और विषय की साक्षात् पृथकता का बोध हमें होने लग जाता है तो उस व्यक्त मानासिक दशा को प्रत्यक्ष ज्ञान (Perception) कहते हैं। हमारे यहां की मनोवैज्ञानिक परिभाषा में इन दोनों मानासिक व्यापारों का भेद निर्विकल्प ज्ञान तथा सविकल्प ज्ञान के द्वारा प्रकट किया गया है।

इन्द्रियानुभवों का विभाग

सामान्यतः इन्द्रियानुभवों को दो मुख्य विभागों में बांटा जा सकता है। पहिले विभाग के अन्तर्गत वे अनुभव स्थान लेते हैं जो शरीर के विशेष अङ्गों अथवा इन्द्रियों के विषय के साथ सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन अनुभवों को वाह्य विषयक अनुभव कह सकते हैं। दूसरे विभाग में उन अनुभवों को लाया जा सकता है जिन की उत्पत्ति में शरीर का कोई विशेष अङ्ग तो प्रयुक्त नहीं होता परन्तु सारे शरीर की साधारण दशा उन की उत्पत्ति में कारण बनती है।

जैसे सुख दुःख का अनुभव, सन्तोष हर्ष का अनुभव, श्वासोच्छ्वास का अनुभव, इत्यादि। इन अनुभवों को आन्तर्विषयक अनुभव कहते हैं। बाह्य विषयक अनुभव पुनः पांच विभागों में विभक्त किये जाते हैं।

बाह्य विषयक इन्द्रियानुभव

रसनानुभव घ्राणानुभव नेत्रानुभव श्रोत्रानुभव त्वगनुभव

दबावानुभव शीतोष्णानुभव

कई विद्वानों के मतानुसार स्नायुज-अनुभव को भी इन्द्रियानुभवों की गणना में लिया गया है। यह अनुभव शरीर के अन्तर्वर्ती पट्ठों की हरकत से पैदा होते हैं।

पांचवां अध्याय

इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा पञ्चेन्द्रिय व्याख्या

बाह्य जगत का सम्पूर्ण ज्ञान हमें पञ्चेन्द्रियों द्वारा ही प्राप्त होता है। इन्द्रियों के साथ बाह्य विषय के सन्निकर्ष से हमारे शरीर के तन्तु उत्तेजित होते हैं। और वह उत्तेजना मस्तिष्क में पहुँच कर ज्ञानावस्था को उत्पन्न करती है जिसको हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। पञ्चेन्द्रियों को ज्ञान के पञ्च द्वार भी कहा जाता है प्रत्येक इन्द्रिय हमें ज्ञान की एक विशेष राशि प्रदान करती है और सब मिलकर हमारे ज्ञान का भण्डार भरपूर करती हैं।

इन्द्रियों के निरन्तर प्रयोग की आवश्यकता

यद्यपि पञ्चेन्द्रियां ज्ञान प्राप्ति का साधन हैं तथापि इनका पर्याप्त प्रयोग न करने से अथवा विस्पष्ट प्रयोग न करने से हम ज्ञान की अधिकांश राशि से वञ्चित रहते हैं। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिये यह आवश्यक है कि हम विषय का भली प्रकार निरीक्षण करें। तथा एक ही विषय के सम्बन्ध में पर्याप्त ज्ञान राशि प्राप्त करने के लिये जितने इन्द्रियों के प्रयोग की आवश्यकता है उन सब का ध्यान पूर्वक प्रयोग करें। साधारणतया हम पदार्थों को देखते, सुनते, सूंघते, चखते, तथा छूते रहते हैं। परन्तु एक देखी हुई चीज़ का हमें किसी के सन्मुख वर्णन करना पड़ जावे तो तब

हमें ज्ञान होता हैं, कि हमारा देखना कितना अस्पष्ट था तथा चक्षु का प्रयोग कितनी असावधानी से किया गया था इसी लिये प्रायः कहा जाता है कि हम देखते हुए भी नहीं देखते। जिस परिस्थिति में हम दिन भर विचरते हैं, जिन मित्रों के साथ हम दिन भर बात चीत करते हैं, जिन दृश्यों का हम निरन्तर अवलोकन करते रहते हैं उनका यदि कभी लेख बद्ध ब्योरा किसी के सन्मुख प्रकट करना पड़े तो तब प्रतीत होगा कि दिन भर के जीवन में भी हमारा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कितना वाह्य रूपेण ही होता रहता है। अपने घर के जिस कमरे में हम दिन भर बैठते हैं उसी का सर्वांश में वर्णन हमारे लिये कितना कठिन प्रतीत होता है यह सब घटनाएं इस बात का उल्लेख करती हैं कि हमें प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति के लिये अपनी इन्द्रियों का कितना निरन्तर तथा ध्यान पूर्वक प्रयोग करना चाहिए।

बालोद्यान विधि तथा इन्द्रियों का प्रयोग

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में बालोद्यान विधि का प्रयोग जो प्रारम्भ हुआ है वह इसी न्यूनता को अनुभव करने का फल है। बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा में इस विधि के अनुसार इन्द्रियों के सीधे प्रयोग पर बहुत बल दिया गया है। बालोद्यान को मूर्त्त शिक्षण भी कहते हैं। बच्चों को जो पाठ पढ़ाना हो उसकी सारी सामग्री उनको इन्द्रिय-गोचर कराई जाती है बच्चा उस सामग्री का ध्यान पूर्वक अवलोकन कर के स्वयं ज्ञान प्राप्त के

लिये प्रयत्नशील होता है। उदाहरणार्थः—यदि बच्चे को उद्यान का पाठ पढ़ाना हो तो उसे उद्यान में लेजाकर फल फूल वनस्पति वृक्ष आदि का सीधा प्रत्यक्ष कराया जाएगा। बच्चा अपने आप वृक्षों के भेद तथा फूलों के रङ्गों का भेद तथा उन की गन्धों का भेद तथा रवशों और क्यारियों का भेद इत्यादि उद्यान सम्बन्धी बातों के जानने का स्वयमेव उद्योग करेगा। इस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान के संस्कार दृढ़ता पूर्वक उस के मस्तिष्क में स्थान जमा लेंगे और उसके लिये भावी ज्ञान प्राप्ति के लिये पूर्वसाञ्चित सामग्री का काम देंगे।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष, ज्ञान प्राप्ति का बड़ा साधन है इस शक्ति की उन्नति बाल्यावस्था तथा युवावस्था में होनी चाहिये। बीस बाईस वर्ष की आयू से ऊपर पदार्थों के भली प्रकार प्रत्यक्ष करने की आदत डालना बहुत कठिन हो जाता है। बड़ी आयु में चिन्तन शीलता तो बढ़ती है परन्तु इन्द्रिय प्रत्यक्ष शक्ति नहीं बढ़ सकती। जो नवयुवक ज्ञान प्राप्ति का साधन पुस्तकों को ही बनाते हैं और उन्हीं का आश्रय सर्वदा ढूंढ़ते हैं उनमें इन्द्रिय प्रत्यक्ष की शक्ति कम हो जाती है वे हर बात को पुस्तकों के लेखकों की दृष्टि से ही देखते हैं। अपने वैयक्तिक अनुभव का वे लोक तिरस्कार करते हैं। ऐसी दशा में उनकी मानसिक शक्तियों का विकास नहीं होने पाता, तथा उनको स्वतन्त्र चिन्तन करने का गौरव कभी प्राप्त नहीं होता। वर्तमान काल

में छापखाने के विस्तृत प्रयोग तथा पुस्तकों के सस्ते मूल्य पर बिकने ने आधुनिक मनुष्यों की इन्द्रिय प्रत्यक्ष-शक्ति को और शिथिल कर दिया है वे ज्ञान की प्राप्ति के लिये अपने प्रयत्न का आश्रय नहीं लेते। हर विषय पर जो उनकी सम्मति होती है उसकी साक्षी के लिये वे अपने अनुभव को प्रमाण नहीं मानते। अपितु पुस्तकों की साक्षी को ही प्रमाण स्वीकार करते हैं यह प्रवृत्ति ज्ञान बुद्धि के रास्ते में बड़ी रुकावट है।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष-शक्ति के उन्नत करने के क्रियात्मक उपाय

ज्ञान की वृद्धि के लिये तथा मानसिक विकास के लिये इन्द्रिय प्रत्यक्ष शक्ति की कितनी आवश्यकता है इसका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं कई विद्वानों ने इस शक्ति को उन्नत करने के लिये कुछ सरल उपाय वर्णन किये हैं। विद्यार्थियों के हितार्थ हम उन का उल्लेख भी यहां करते हैं। (१) सबसे पहिला उपाय अभ्यास है। तैरना तैरने से आता है लिखना लिखने से आता है इसी प्रकार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की शक्ति भी इन्द्रियों के निरन्तर प्रयोग के अभ्यास द्वारा ही प्राप्त होती है। हम जिस वस्तु का अवलोकन करें जिस शब्द को श्रवण करें, उसके निमित्त इन्द्रिय का सावधानी से प्रयोग करने का अभ्यास करें यह बात हमारे व्यक्ति गत परिश्रम से सिद्ध हो सकती है। (२) इन्द्रियों के प्रयोग का अभ्यास डालने का एक और सुगम उपाय यह है कि हम ऐसे व्यक्तियों के सत्सङ्ग को ग्रहण करे कि जिन में

सावधानता पूर्वक इन्द्रिय-प्रयोग का अभ्यास पूर्व से ही पाया जाता हो ऐसे लोक कई देखने में आते हैं जो अपनी इन्द्रियों को सर्वदा चौकन्ना रखते हैं हर प्रकार का अनुभव जो इन्द्रियों द्वारा वे प्राप्त करते हैं वह उन के ध्यान पूर्वक निरीक्षण का फल होता है ऐसे लोगों के सत्सङ्ग में यदि एक बार भी कहीं भ्रमण कर लिया जावे तो मार्गवर्ती दृश्य, पक्षियों के सुरीले आलाप, फूलों के नानाविध रङ्ग तथा चारों ओर की चित्र विचित्र घटनाएं जो अनुभव में आएंगी जिनकी ओर पहिले कभी हमारा ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। ऐसे लोकों के सहवास में संसार हमारे लिये नया रूप धारण कर लेता है। साधारण चीज़ भी जिनका हम अब ध्यान पूर्वक अवलोकन करने लग जाते हैं वे हमें असाधारण शिक्षा देने लग जाती है। अतः मित्रों के चुनाव में विद्यार्थियों का विशेष ध्यान देना चाहिए। उनके लिये केवल ऐसे व्यक्तियों का सहचार ही श्रेयस्कर होता है जो उनको अपनी इन्द्रियों का शुद्ध तथा गम्भीर प्रयोग सिखला सकें। तथा उनके अन्दर निरन्तर सावधान रहने का अभ्यास डाल सकें। उपराम तथा आलस्य प्रमाद युक्त व्यक्तियों का सहवास प्रायः हमारी इन्द्रियों की ग्रहण शीलता को कुण्ठित कर देता है। (३) तीसरी बात जिसकी ओर ध्यान देना चाहिये वह यह है कि इन्द्रियों द्वारा विषय का प्रत्यक्ष करते समय हमें शीघ्रता से कार्य न करना चाहिये। अनुभूत

विषय का संश्लेषण करके उसके प्रत्येक अङ्ग का ध्यान पूर्वक अवलोकन करना चाहिए अङ्गों के पृथक २ निरीक्षण से विषय की सम्पूर्ण सत्ता का ज्ञान हमें भली प्रकार होने लगता है। शीघ्रता के स्थान में धैर्य को काम में लाना चाहिए। धैर्य पूर्वक निरीक्षण का अभ्यास डाल लेने पर हम पदार्थों के शीघ्रता पूर्वक प्रत्यक्ष करने की शक्ति भी उपार्जन कर लेंगे।

अनुभव पृष्ठ भावी प्रत्यक्ष Apperception.

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष द्वारा जब हम ज्ञान प्राप्ति करते हैं तो उस में पूर्व काल का अनुभव हमारी विशेष सहायता करता है कई मनोवैज्ञानिकों की सम्मति में हमारा सारा बाह्य प्रत्यक्ष, अनुभव पृष्ठ भावी-प्रत्यक्ष से होता है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष में पूर्व अनुभव अपेक्षित रहता है, इस के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस समय मैं दूर से एक शब्द सुन कर यह कह देता हूं कि यह शब्द किसी शिवालय में घड़ियाल के बजने का है। वास्तव में उस समय में इस शब्द की पूर्व काल में कई वार शिवालय में बजते हुए घड़ियाल के शब्द के साथ समानता का अनुभव करता हूं और उसी समानता के कारण इस शब्द को घड़ियाल का शब्द कहता हूं। इसी प्रकार अन्य हर भान्ति के ज्ञान की प्राप्ति में हमारे पूर्व सञ्चित ज्ञान के संस्कार सहायता करते हैं। किसी नये विषय का अन्वेषण तथा किसी नये प्रकरण का आन्दोलन जब हमें करना होता है तो उस में भूतकाल का अनुभव भावी अनुभव

के बढ़ाने में हमारी बड़ी सहायता करता है। अतः यह आव-श्यक है कि बच्चों की प्रारम्भिक शिक्षा में उन के बाह्य विषयक अनुभव को खूब विस्तृत किया जावे ताकि आगामी शिक्षा में अनुभव वृद्धि की उन्हें सहायता मिल सके।

प्रायः देखा जाता है कि हमारा वर्तमान अनुभव भूत-काल के अनुभव का परिचय देता है। रेलगाड़ी में सफर करते समय अपने साथ बैठे हुए यात्रियों के वार्तालाप से उन के भूत-कालिक जीवन तथा व्यवसाय आदि का बहुत कुछ पता लग जाता है। कपड़ों के सम्बन्ध में यदि एक यात्री बात चीत कर रहा हो और दूसरा जवाहारात के सम्बन्ध में तो एक का कपड़े का व्यापारी होना और दूसरे का जवाहारात का व्यापारी होना सम्भव हो सकता है। एक छायादार वृक्ष को देख कर एक मनुष्य यह कह उठता है कि इस की लकड़ी के बड़े २ शहतीर बन सकते हैं और वे अमुक प्रकार की छत के निर्माण करने में प्रयुक्त हो सकते हैं। दूसरा उस की छाल की प्रशंसा करता है तीसरा उस की शाखाओं में पक्षियों के घोंसलों का चिन्तन करता है, चौथा वृक्ष की छाया तथा उस के रूप और आकृति के सौन्द्रर्य्य को अनुभव करके गद्गद हो जाता है क्या इन चारों मनुष्यों की वर्तमान प्रवृत्ति को देख कर उन के जीवन व्यवसाय का अनुभव किया जा सकता है?

पञ्चेन्द्रिय व्याख्या

अब हम पञ्चेन्द्रियों का विचार तथा उन के कार्य्य का विवरण करते हैं यह देखने के लिये कि उन के द्वारा हमारे आत्मा को कितनी और किस प्रकार की ज्ञान राशि प्राप्त हो सकती है? पञ्चेन्द्रियों की व्याख्या का क्रम उन की उपयोगिता की दृष्टि से निश्चित हो सकता है परन्तु उपयोगिता की दृष्टि विवादास्पद है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ स्थान पर अत्यन्त उपयोगी है तथा जीवन यात्रा में मनुष्य की सहायक है एक इन्द्रिय का कार्य दूसरी इन्द्रिय द्वारा नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में उन की परस्पर उपयोगिता की तुलना निरर्थक सिद्ध होती है अतः उनकी व्याख्या का क्रम उपयोगिता की दृष्टिको छोड़ कर ज्ञान की राशि की दृष्टि से करेंगे। जिस इन्द्रिय से सबसे न्यून ज्ञान-राशि की उपलब्धि होती है उस का उल्लेख प्रथम करेंगे तत्पश्चात् जो २ इन्द्रिय क्रमानुसार अधिक ज्ञान की राशि समुपलब्ध कराती है उस २ का विचार किया जाएगा। इस दृष्ट्यनुसार इन्द्रिय की व्याख्या निम्न क्रम से होगी। (१) रसना, (२) घ्राण, (३) श्रोत्र, (४) चक्षुः, (५) त्वचा।

छटा अध्याय

रसनेन्द्रिय

वाह्य जगत के सम्बन्ध में सब से न्यून ज्ञान इसी से प्राप्त होता है परन्तु रसना घ्राणेन्द्रिय के साथ मिल कर शरीर के रक्षण में विशेष भाग लेती है। जो भोजन हम खाते हैं तथा जिस वायु का हम सेवन करते हैं उनके अच्छे बुरे होने का ज्ञान इन इन्द्रियों द्वारा हमें प्राप्त होता है परन्तु भोजन तथा वायु का सेवन हमारे प्राणों का आधार है।

रसनेन्द्रिय की शारीरिक रचना

रसों के अनुभव के लिये शारीरिक उपकरण जिह्वा और तालु हैं उन पर छोटे २ बिन्दु दिखाई देते हैं जिन को "रसना कण" (Taste-buds) कहते हैं, इन कणों के नीचे की ओर रसना नाड़ी (Gustatory nerve) रहती है।

अब हमें यह देखना है कि रसनानुभव कैसे होता है?

रसनानुभव

जब हम किसी स्वादिष्ट पदार्थ को अपनी जिह्वा पर रखते हैं तो जिह्वा के रसना कणों के साथ वह रगड़ खाता है उस से लार पैदा होती है लार में वह पदार्थ घुल कर एक रसायनिक क्रिया उत्पन्न करता है यह स्मरण रहे कि केवल द्रव या घुलन शील पदार्थ ही हमें रस का अनुभव करा

सकते हैं। परीक्षणार्थ–कांच और खालिस लोहे को जिह्वा पर रख कर देख लो। घुलनशील पदार्थ लार में घुल कर जब रसायनिक क्रिया पैदा करते हैं तो उस रसायनिक क्रिया द्वारा रसना नाड़ी में एक प्रकार का संचलन पैदा हो जाता है जो संचलन उस नाड़ी द्वारा मस्तिष्क के विशेष केन्द्रों में पहुंच कर रसना का अनुभव पैदा करता है। रसनानुभव के लिये यद्यपि जिह्वा मुख्य अङ्ग है तथापि तालु का अग्रभाग भी (तालुतल स्पर्श) इस अनुभव के पैदा करने में सहायक बनता है।

चार प्रकार के रस

प्रायः रसों के मुख्य चार प्रकार गिनाए जाते हैं। (१) मधुर, (२) अम्ल, (३) कटु, (४) लवण। इन्हीं के परस्पर भिन्न २ अनुपातों में संसर्ग द्वारा नाना रूप रस उत्पन्न होते हैं। पेटु जो जिह्वा लौल्य आसक्त होकर दिन प्रतिदिन नये २ स्वादों के प्राप्त करने की इच्छा करता है वह वास्तव में इन्हीं मूल रसों के नानाविधि अनुपातों द्वारा उन्हें प्राप्त करता है। कई विद्वानों ने इन रसों के उपरोक्त चतुर्वर्ग में दो अन्य रसों को भी सम्मिलित किया है अर्थात् तिक्त और कषाय। इस प्रकार षड्रस स्वीकार किये हैं। वुन्ट महाशय ने क्षार रस तथा धातवीय रस भी स्वतन्त्र रस स्वीकार किये हैं परन्तु वास्तव में इन रसों का अनुभव उपरोक्त षड्रसों के किसी रूपान्तर अनुभव के अन्तर्गत रहता

है। कई विद्वानों ने इन सब रसों को केवल दो रसों में विलीन करने का यत्न किया है अर्थात् मधु और कटु। परन्तु उनको इस में कृतकार्यता नहीं हुई क्योंकि लवण और अम्ल रस मधु और कटु का कोई रूपान्तर प्रतीत नहीं होते किन्तु वे स्वतन्त्र सरल रस हैं किन्हीं अन्य रसों का मिश्रण नहीं हैं अनेक प्रकार के स्वाद जो हमें अनुभव होते हैं उन में इन चार रसों के साथ साथ और भी कई प्रकार के इन्द्रियानुभव सम्मिलित रहते हैं, जो इन रसों के कई भेद कर देते हैं। जैसे स्पर्शानुभव तथा घ्राणानुभव रसनानुभव के साथ २ रहते हैं। स्नायुज अनुभव भी रस के अनुभव में अन्तर पैदा कर देते हैं। फटकरी का रस तथा लाल मिर्च तथा अन्य किसी तीक्ष्ण पदार्थ के रसानुभव में वस्तुतः जिह्वा के स्नायुओं की उत्तेजना भी कारण होती है। जो विद्वान केवल चार रसों की संख्या को स्वीकार करते हैं उनके मतानुसार तिक्त रस वास्तव में कटु रस के अनुभव में जिह्वा की स्नायुज उत्तेजना के सम्मिलित होने पर पैदा होता है। इसी प्रकार कषाय भी अम्ल रस के अनुभव में जिह्वा की स्नायुज उत्तेजना के सम्मिलित होने पर पैदा होता है। हमारी जिह्वा में स्पर्श शीतोष्ण तथा रस तीनों के अनुभव के लिये कण पाए जाते हैं इसी लिये जब भी कोई ठोस या द्रव पदार्थ अपनी जिह्वा पर रखते हैं तो हमें उसकी आकृति परिमाण कोमलता तथा उसकी गर्मी सर्दी का अनुभव प्राप्त

होता है। बहुत सारे पदार्थ जिन को हम खाते हैं वे रसानुभव के साथ २ गन्धानुभव भी देते हैं रसनेन्द्रिय तथा घ्राणेन्द्रिय का परस्पर निकटतर, सम्बन्ध है। जुकाम में जब हमारी ना.सिका बन्द हो जाती है तो हम अपने रसानुभव को भी खो बैठते हैं। हमारा चाक्षुष अनुभव भी किसी सीमा तक रसानुभव को प्रभावित करता है। देखने में सुन्दर सेव चखने में भी स्वादिष्ट प्रतीत होने लगता है भली प्रकार परोसा हुआ भोजन खाने में अधिक रुचिकर हो जाता है।

रसानुभव को "अपरान्त"

यदि किसी पदार्थ के रसानुभव के अपरान्त का परीक्षण करना हो तो उसका घोल तय्यार करलो। मानलो कि तुमने पांच प्रति शतक का घोल तय्यार किया है तो उस घोल के एक विन्दु में ५/१०० भाग उस पदार्थ का होगा यदि अब उस विन्दु में १०० बिन्दु जलके और मिला दिये जावें तो साधारण गणित द्वारा तुम यह जान सकते हो कि अब उस घोल में उस पदार्थ का अनुपात प्रति शतक कितना है तब उस हलके घोल में से एक बिन्दु जिह्वा पर डालें। उसके साथ धीरे २ जल की और निश्चित राशि मिलाते जावें जब तुम्हें उस पदार्थ के रस का न्यूनतर अनुभव होने लगेगा, अर्थात् जब घोल इतना हलका हो जावे कि उससे ज़रा भी हलका करने पर रस का लोप प्रतीत हो तो वह सीमा अथवा

अनुपात उस पदार्थ के रसानुभव का अपरान्त (Threshold of sensation) कहलायगा। भिन्न २ रस युक्त पदार्थों के लिये ये अपरान्त भिन्न २ सिद्ध किया गया है। इसी लिये उनका एक अनुपात न होने के कारण हम यह नहीं कह सकते कि खाण्ड इतनी ही मीठी है जितनी कि निम्बू खट्टा है।

रसों की तीव्रता

रसों की तीव्रता पदार्थों की राशि पर आश्रित रहती है। एक पांच प्रति शतक का घोल इतना तीव्र रस नहीं पैदा करता जितना कि दस प्रति शतक का घोल। रसों के सम्बन्ध में एक और स्मरण रखने योग्य बात यह है कि कभी २ एक के संयोग से दूसरा रस अधिक तीव्र अनुभव होने लगता है जैसे मधुर रस थोड़े से कटु रस के साथ मिला के ग्रहण किया जावे तो उस का माधुर्य्य और भी बढ़ जाता है इसी प्रकार अम्ल रस यदि थोड़े से मधुर रस के साथ मिला के ग्रहण किया जावे तो उसके अम्लत्व का अनुभव और भी अधिक हो जाता है। शीतोष्ण के प्रभाव से भी रसों के अनुभव में परिवर्तन अथवा लोप दिखाई देता है यदि थोड़ी देर के लिये गर्म पानी मुँह में रखें और उस के पश्चात् मिशरी की डली जिह्वा पर रखें तो मिठास का अनुभव नहीं होगा। इसी प्रकार यदि जिह्वा पर बर्फ की डली रखी जावे तो भी मिशरी के मिठास का अनुभव प्रतीत न होगा।

जिह्वा के भिन्न २ भाग भिन्न २ रसों का अनुभव पैदा करने के लिये नियत प्रतीत होते हैं। जिह्वा का अग्रभाग मधुर और अम्ल रस का अच्छी तरह अनुभव कराता है। लवण जिह्वा के दोनों पार्श्व, और कटु जिह्वा के पिछले भाग से अनुभव होते हैं। रसनेन्द्रिय का विशेष कार्य यह है कि वह शरीर के लिये उत्तम और अनुकूल भोज्य पदार्थों का निर्णय करे। जिह्वा आमाशय के लिये द्वारपाल का काम देती है।

घ्राणेन्द्रिय

रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय के अनुभव प्रायः एक साथ प्राप्त होते हैं कई पदार्थों के रसानुभव में उसका गन्धानुभव भी सम्मिलित रहता है। सेव के खाते समय उसकी गन्ध का आनन्द भी साथ २ आता रहता है। परीक्षण द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि जहां रसनेन्द्रिय केवल षड्रसों का ज्ञान कराती है वहां घ्राणेन्द्रिय अनेक प्रकार के गन्धों का (सौरभासौरभभेदेन) अनुभव कराती है। यद्यपि गन्ध अनेक प्रकार के हैं तथापि भाषा में अभी तक उन सबकी नामावली नहीं पाई जाती। इसलिये या तो गन्ध युक्त पदार्थों के नाम पर ही उनके गन्ध का नाम रख दिया गया है जैसे प्याज की गन्ध, सेव की गन्ध, अण्डे की गन्ध, मुर्दे की गन्ध इत्यादि। या सब गन्धों का सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो शब्दों के प्रयोग से भेद किया जाता है।

गन्ध का हमारे फेफड़ों के साथ वही सम्बन्ध है जो रसना का आमाशय के साथ। घ्राणेन्द्रिय का मुख्य कार्य इस बात का निर्णय करना है कि जो वायु हमारे फेफड़ों में जाती है वह शुद्ध है अथवा अशुद्ध।

घ्राणेन्द्रिय की शारीरिक रचना तथा गन्धानुभव

नासिका गन्ध का अनुभव कराती है इस के भीतर ऊपर के भागों में नसों की ऐसी रचना की गई है कि जब हम श्वास लेते समय वायु को ऊपर खेंचते हैं तो उन नसों को उत्तेजना मिलती है। गन्ध युक्त पदार्थ प्रायः अपनी गन्ध मय रज के अति सूक्ष्म कण छोड़ते रहते हैं। वह वायु से मिल कर श्वास द्वारा हमारी नासिका में खिचे आते हैं वहां नासिका के भीतरी तन्तुओं को प्रोत्साहित करते हैं। वह प्रोत्साहन उन ज्ञान तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क में पहुंच कर गन्धानुभव पैदा करता है। गन्ध के कणों के अस्तित्व का यदि परीक्षण करना हो तो शिकारी कुत्ते के मुंह पर कपड़ा बान्ध दो। वह अपने शिकार का मार्ग खो बैठेगा। मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं में गन्धानुभव की शक्ति अधिक तीव्र होती है कारण यह है कि पशुओं को अपनी प्राण-स्थिति तथा प्राण रक्षा के लिये गन्ध का आश्रय लेना पड़ता है। इसी गन्ध के द्वारा पशु अपने मित्र और शत्रु का भेद करते हैं तथा अपने शिकार की खोज करते हैं। मनुष्यों में गन्ध शक्ति

बहुत उन्नत दशा को प्राप्त इस लिये नहीं हुई कि उन्हें अपनी जीवन स्थिति के लिये अन्य इन्द्रियों का अधिक आश्रय लेना पड़ता है। तिस पर भी कई मनुष्य गन्धानुभव-शक्ति को बहुत उन्नत दशा तक पहुंचा सकते हैं। फ्रांस देश में कई खान-सामे चाय और शराब को सूंघ कर और चख कर यह बतला सकते हैं कि वह चाय और शराब कितनी पुरानी है और देश के किस हिस्से से लाई गई है।

गन्धों का वर्गीकरण अति कठिन कार्य है इसमें हेतु यह है।

(क) गन्धों की संख्या अनेक है।

(ख) बहुत सारे गन्ध एक जैसे प्रतीत होते हैं।

(ग) उनके आन्तरिक गुणों की विवेचना नहीं होसकती।

(घ) सुगन्ध और दुर्गन्ध की दृष्टि से गन्धों का जो विभाग किया गया है वह भी गन्धों के अन्तर्वर्ती गुणों की दृष्टि से नहीं किया गया अपितु सुख दुःख रूपी संवेदन की दृष्टि से किया गया है जिन को वे गन्ध पैदा करते हैं।

प्रकृति ने हमें दो नासिकाएं किस लिये दी हैं ? क्या दो की अपेक्षा एक से कार्य नहीं चल सकता था ?

प्रश्न

गन्ध शक्ति की कुण्ठित अवस्था या श्रान्त दशा

कई बार ऐसा भी अनुभव में आता है कि यदि एक पदार्थ की गन्ध अति तीव्र हो और वह बहुत समय तक ग्रहण की जावे तो उस गन्ध के लिये हमारी घ्राणेन्द्रिय कुण्ठित या श्रान्त हो

जाती है और उस में उस गन्ध के अनुभव कराने का सामर्थ्य नहीं रहता। यही कारण है कि मेहतरों को मैले की गन्ध नहीं आती। ब्याज का अधिक प्रयोग करने वाले पाचकों को अधिक गन्ध नहीं आती।

घ्राणेन्द्रिय की उपयोगिता

यदि हमारी गन्ध शक्ति क्षीण हो जावे तो हमें प्रायः दम घुटने का भय बना रहेगा। क्योंकि शुद्धाशुद्ध वायु में भेद करना हमारे लिये कठिन हो जावेगा। ऐसी दशा में यदि कोई जहरीली वायु श्वास द्वारा हमारी नासिका में चली जावे तो हम गन्ध शक्ति विहीन होने के कारण उस से बच न सकेंगे। इस लिये प्राणान्त होने में कोई सन्देह न रहेगा। गन्ध शक्ति को खो बैठने पर मनुष्य कुछ न्यूनाधिक अपनी सौन्दर्य-विवेकी शक्ति को भी खो बैठता है।

प्रश्न

तुम्हारी दृष्टि में गन्ध शक्ति अधिक उपयोगी है या रसना शक्ति?

गन्ध तथा रसनानुभव में समानताएं

१—दोनों प्रकार के अनुभव प्रायः बाह्य विषय के सम्बन्ध में अनिश्चित ज्ञान के देने वाले हैं।

२—विषय के निरन्तर सहवास से दोनों प्रकार के अनुभव शिथिल पड़ जाते हैं।

३—दोनों बाह्य जगत के विषय में बहुत थोड़े पदार्थों का

ज्ञान करवा सकते हैं। यदि एक छोटा बच्चा अपनी आंखों कानों तथा स्पर्श शक्ति से वञ्चित हो जावे तो उस की ज्ञान राशि में बहुत कमी नज़र आने लग जावेगी।

४—गन्धों तथा रसों दोनों का स्मरण करना सुगम नहीं है हम देखी हुई चीज़ों का स्मरण शीघ्र कर लेते हैं जैसे गुलाब के फूल की आकृति का स्मरण हमें जब चाहें हो सकता है परन्तु उसकी गन्ध का स्मरण सुगमता से नहीं हो सकता।

सातवां अध्याय

श्रवणेन्द्रिय-कर्ण

कर्ण द्वारा हमें शब्द का बोध होता है यह इन्द्रिय पूर्व की दो इन्द्रियों से अधिक उपयोगी कहलाती है कारण यह है कि इस के द्वारा विषय का बहुत दूर से अनुभव हो सकता है।

कर्णेन्द्रिय की शारीरिक रचना

कर्णेन्द्रिय को साधारणतया तीन भागों में विभक्त किया जाता है यद्यपि केवल एक ही भाग बाहिर से दिखाई देता है। अन्य दो भाग शंखास्थि के भीतर रहते हैं और बाहिर से दृष्टिगोचर नहीं होत।

कर्ण के तीन भाग

१—वाह्य कर्ण
२—मध्य कर्ण } शङ्खास्थि के भीतर रहते हैं।
३—अन्तरीय कर्ण }

वाह्य कर्ण के दो भाग हैं एक बाहिर का विस्तृत भाग जिस को कर्ण शष्कुली कहते हैं और जो सीप के आकार का होता है। यह भाग बाहिर से अनुकम्पनों को एकत्रित कर के अन्दर भेजता है। दूसरा भाग कान की नली है जो शष्कुली के छिद्र से मध्य कर्ण की बाहिरी दिवार तक लग भग एक इञ्च लम्बी होती है। मध्य कर्ण एक छोटी सी कोठरी है जो शङ्खास्थि के भीतर रहती है इस की बाहिरी सीमा कान के

परदे से बनती है मध्य कर्ण में तीन छोटी २ अस्थियां होती हैं जो एक दूसरे से सम्बद्ध रहती हैं। पहिली अस्थि कान के परदे के पास रहती है उसे मुद्ग कहते हैं क्योंकि मुद्गर या हथोड़े के अकार की होती है। मध्य की अस्थि स्वर्णकार की निहाई के सदृश होने के कारण निहाई नाम से प्रसिद्ध की गई है। तीसरी अस्थि अन्तरीय कर्ण के निकट रहती है उस की आकृति रकाब से मिलती जुलती है अतः उस को रकाव का नाम दिया गया है। अन्तरीय कर्ण की रचना बड़ी सङ्कीर्ण और अनोखी होती है अन्तरीय कर्ण के भी तीन भाग गिनाए गए हैं। (१) पाहिले भाग की रचना अर्धचक्राकार वाली तीन नालियों से बनती है। दूसरे भाग में बीच की कोठरी या कर्णकुटी सम्मिलित रहती हैं। तीसरा भाग शङ्खाकार का होता है इसे कोकला के नाम से पुकारते हैं। श्रवण नाड़ी के तन्तु इस अन्तरीय भाग से स्पर्श करते रहते हैं।

शब्द-बोध कैसे होता है

जब कोई दो चीज़ें परस्पर टकराती हैं तो वे ज़ोर से बजने या थरथराने लगती हैं। उन से वायु में अनुकम्पन पैदा होते हैं। वे अनुकम्पन वायु की तरङ्गों द्वारा हमारे कर्ण तक पहुंचते हैं। इसी प्रकार जब घड़ियाल बजता है तो अपने निकटवर्ती वायु में अनुकम्पन पैदा कर देता है वे अनुकम्पन वायु के माध्यम द्वारा हमारे कानों में

पहुंचते हैं यह अनुकम्पन शब्दकर पदार्थ के निकट बड़े वेग से गति करते हैं परन्तु ज्यों २ उस से वे दूर चले जाते हैं उन की गति धीमी पड़ती जाती है यही कारण है कि शब्दकर वस्तु के निकट आवाज़ ऊंची सुनाई देती है और उस से दूर धीमी। वायु के अनुकम्पन जब हमारे कान तक पहुंचते हैं तो वे वाह्य विस्तृत कर्ण द्वारा कर्णाञली में प्रविष्ट होते हैं और कान के पर्दे के साथ जा टकराते हैं और उस में अनुकम्पन पैदा करते हैं। कान के पर्दे के भीतरी अस्थियों के साथ टकराने से वे अनुकम्पन उन अस्थियों को प्राप्त होते हैं उन के द्वारा कर्णकुटी के द्रव में वे अनुकम्पन पहुंचते हैं उस द्रव से कोकला की निकटवर्ती श्रवण नाड़ी के तन्तुओं द्वारा वे अनुकम्पन अन्ततः मस्तिष्क के श्रवण केन्द्रों में जागरण उत्पन्न करते हैं जिस से हमें शब्द का ज्ञान प्राप्त होता है। अनेक प्रकार के शब्दानुभव वायु के अनुकम्पनों द्वारा उत्पन्न होते हैं। मनुष्य का कान कम से कम १२ और अधिक से अधिक ६०००० अनुकम्पन एक सैकिण्ड में ग्रहण कर सकता है। यह संख्या सब मनुष्यों के लिये एक जैसी नियत नहीं। प्रत्येक मनुष्य की श्रवण-शक्ति अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा न्यूनाधिक पाई जाती है।

शब्द के दो भेद

जो शब्द हमें सुनाई देते वे दो प्रकार के होते हैं। १—कोलाहल-शोर २-नाद या राग। जो शब्द हमें रसीले प्रतीत होते हैं और हमारी

सुख प्रतीति का कारण बनते हैं उन को हम नाद अथवा राग के नाम से पुकारते हैं । तथा जो शब्द श्रुतिकटु तथा अरुचिकर प्रतीत होते हैं उनको हम कोलाहल के नाम से पुकारते हैं । इनका परस्पर भेद एक और प्रकार से भी किया जा सकता है जब वायु के अनुकम्पन एक क्रम बद्ध नियमित संख्या में हमारे कानों को प्राप्त हों तो हमें राग या नाद का ज्ञान होगा जब वे क्रम हीन और अनियमित संख्या में प्राप्त हों तो हमें कोलाहल का बोध होगा ।

हमारी शिक्षा और शब्द भेद

अधिकांश कोलाहल और राग के ज्ञान का भेद हमारी शिक्षा और अभ्यास पर आश्रित रहता है । एक प्रकार का शब्द जो एक विशेष जाति के व्यक्तियों के हृदयोल्लास का साधन बनता है वही शब्द दूसरी जाति के व्यक्तियों के लिये असह्य और कर्णवेधी सिद्ध होता है । सङ्गीत शिक्षा विहीन व्यक्तियों को एक अच्छे रागी का आलाप कोलाहलमात्र प्रतीत होता है । आङ्गलजाति का सङ्गीत भारतवासियों को प्रायः रुदनध्वनि के सदृश प्रतीत होता है इसी प्रकार यहां का उच्चकोटि का सङ्गीत आङ्गिलयों को शोर शराबे के अतिरिक्त कुछ प्रतीत नहीं होता ।

शब्दों का त्रिविध भेद

पुनः शब्द का त्रिविध भेद दर्शाया जा सकता है । १–तारमन्द द्वारा । २–तीव्रमन्द और असाधारण धर्म । शब्दों का तार मन्द भेद कम्पनों की संख्या

पर आश्रित रहता है। जब किसी को तुमने सितार बजाते हुए देखा होगा तो उसको सितार पर अपनी उङ्गलियों को ऊपर नीचे लेजाते हुए भी अनुभव किया होगा इस उङ्गलियों को ऊपर नीचे ले जाने का क्या तात्पर्य्य है। क्या शब्द के उतार चढ़ाव में इस प्रकार कुछ भेद पड़ता है? अंगुलियों द्वारा वास्तव में तारों को दबाया जाता है और अंगुलियों के ऊपर नीचे करने से तारों की लम्बाई में अन्तर आता है एक छोटी तार बड़ी तार से अधिक शीघ्रता पूर्वक कम्पन करती है इस प्रकार स्वर शब्द में तार मन्द भेद आता है तीव्र मन्द भेद कम्पनों के विस्तार पर आश्रित रहता है। और जब एक ही स्वर सङ्गीत के भिन्न २ यन्त्रों द्वारा पैदा की जाती है तो वह स्वर भेद असाधारण धर्म्म के कारण उत्पन्न होता है यह देखने में आता है कि सारङ्गी द्वारा जब एक स्वर निकाली जाती है तो उसी स्वर को यदि हारमोनियम द्वारा निकालें तो उन में अन्तर दिखाई देता है यह अन्तर स्वरों के असाधारण धर्म के कारण होता है इस से यह विदित होता है कि असाधारण धर्म्म का भेद शब्दकर वस्तु की अपनी विशेष रचना पर आश्रित रहता है।

पशुओं की श्रवण शक्ति

जिस प्रकार भिन्न २ मनुष्यों में श्रवण शक्ति का अन्तर दीखता है उसी प्रकार पशुओं की श्रवण शक्ति में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है कई पशुओं

की श्रवण शक्ति मनुष्यों से भी तीव्र होती है। बिल्ली और चूहे को ज़रा सा खटका भी चौकन्ना कर देता है। जिन प्राणियों को अपनी जीवन स्थिति के लिये कानों के प्रयोग का अधिक आश्रय लेना पड़ता है उनमें श्रवण शक्ति अधिक उन्नत दशा में पाई जाती है। जंगली मनुष्यों में भी जिन्हें हर दम अपनी प्राण रक्षा के लिये हिंस्र प्राणियों से खटका रहता है यह शक्ति विशेष उन्नत रूप में नज़र आती है। अभ्यास और आवश्यकता इस शक्ति के उन्नत करने में सहायक साधन हैं।

मिश्रित शब्द

राग विद्या के पण्डितों ने कुछ एक सरल स्वरें निश्चित कर दी हैं जिन को मूल स्वरें कहते हैं। अन्य सब प्रकार के शब्द इन्हीं मूल स्वरों के मिश्रण का फल हैं। जब हम बोलते है, रोते हैं, अथवा राग अलापते हैं तो हमारे यह भिन्न २ प्रकार के शब्द उन्हीं मूल स्वरों के रूपान्तर मिश्रण से पैदा होते हैं।

कानों द्वारा हमें शब्द का ज्ञान प्राप्त होता है तथा शब्द के त्रिविध भेद का भी पता लगता है। वृद्धों में यह श्रवण शक्ति मन्द पड़ जाती है अतः नवयुवक उनके साथ बात चीत करते समय ऊंचा बोलना प्रारम्भ कर देते हैं। प्रायः ऐसा भी देखने में आता है कि मन्द श्रवण शक्ति वाले ऊंचे शब्द की अपेक्षा धीमे शब्द को अच्छी तरह ग्रहण कर लेते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके श्रवण तन्तुओं में अधिक संख्या

वाले अनुकम्पनों को ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती। एक और भी आश्चर्य जनक घटना बहिरे मनुष्यों के सम्बन्ध में देखने में आती है और वह यह है कि वे ऐसे स्थानों में जहां शोर मच रहा हो धीमी बात चीत भी अच्छी तरह सुन सकते हैं। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है। शोर शराबे से कान का पर्दा पूर्व से ही अधिक उत्कम्पित होता है और जब धीमा शब्द उच्चारण किया जाता है तो उसके अनुकम्पन पूर्व उपस्थित अनुकम्पनों से मिल कर अच्छी तरह ध्यान गोचर होकर स्पष्ट शब्द पैदा करते हैं। कई मनुष्यों में खास २ स्वरों के भेद करने की शक्ति नहीं होती ऐसे व्यक्तियों को स्वरान्ध कहते हैं। यद्यपि हम सब लोक स्वरान्ध नहीं हैं तथापि हम सब में न्यूनाधिक बहिरापन अवश्य पाया जाता है। व्यक्तिगत बहिरापन का निर्णय परीक्षण द्वारा किया जा सकता है। यदि एक मनुष्य को एक नीरव (निः शब्द) कमरे में बैठा दिया जावे और उसकी आंखें बन्द कर दी जाएं ताकि उसका ध्यान इधर उधर न हो, साथ ही उसका एक कान रूई से अच्छी तरह बन्द कर दें तो दूसरे कान की श्रवण शक्ति का इस प्रकार परीक्षण हो सकता है, एक घड़ी उसके कान के निकट लाई जावे तो उसकी टिक टिक उसको सुनाई देगी। अब यदि उस घड़ी को क्रमशः हटाते जाएं और उसको एक ऐसी दूरी पर ले जाएं, जहां पर टिक टिक का शब्द सुनाई

देना बन्द हो जाए, तो उस दूरी को माप लें, अब पुनः घड़ी को दूर से धीरे २ कान की ओर लाना चाहिये। जिस दूरी पर पुनः घड़ी की टिक टिक सुनाई देने लगेगी, वहां घड़ी को थाम लेवें और पुनः घड़ी और कान का अन्तर माप लें। इन दोनों अन्तरों का माध्यम साधारण १२ फीट की दूरी के साथ तुलना करने से एक कान की बहिरापन की मात्रा को दर्शाएगा। यही परीक्षण दूसरे कान के बहिरापन की मात्रा को जांचने के काम में लाया जा सकता है। साधारणतया रेलवे में भृत्यों की कर्णपरीक्षा इसी प्रकार की जाती है। इसी लिये इस परीक्षण का नाम रेलवेपरीक्षण पड़ गया है।

प्रश्न

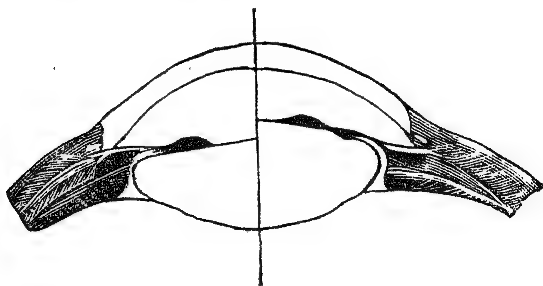
प्रकृति ने हमें दो कान क्यों प्रदान किये हैं? क्या एक की अपेक्षा दो कानों से हमें दुगना सुनाई देता है? क्या श्रवण द्वारा पदार्थों की दिशा का भी हमें अनुमान हो सकता है? क्या एक अथवा दो कान दूरी का ज्ञान भी उपलब्ध करा सकते हैं, शब्दों के स्पष्टतया श्रवण करने के लिये एक कान के प्रयोग तथा दोनों कानों के प्रयोग से क्या अन्तर पड़ता है।

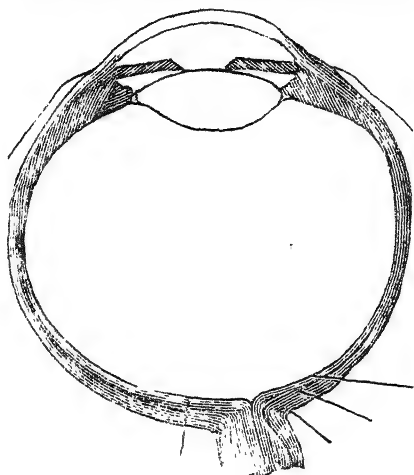
———

आठवां अध्याय
चक्षुः
नेत्रेन्द्रिय

अन्य सब इन्द्रियों से मनुष्य आंख को अधिक मूल्यवान समझते हैं। अपनी सूक्ष्म रचना के कारण शरीर का यह सब से कोमल अङ्ग कहलाता है। इस की रचना-विधि अत्यन्त आश्चर्य जनक है इस का मूल्य तथा उपयोगिता कई कारणों से सिद्ध होती है।

१—इस के द्वारा हमें नाना विध पदार्थों का ज्ञान होता है, इसी की सहायता से यह चित्र विचित्र जगत अपने अनेक दृश्यों को दिखा कर हमारे आह्लाद को बढ़ाता है। मित्र बन्धु सहायक सब इसी दृष्टिगोचर हो कर ही हमारे आनन्द की वृद्धि करते हैं अतः सब इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षु अधिक सुख और आनन्द की उत्पादक है।





२—अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा चक्षु अधिक दूर तक पदार्थों का ज्ञान करवाती है। चन्द्र, तारे, सूर्य, नक्षत्र मण्डल आदि का ज्ञान हमें इस इन्द्रिय के द्वारा हो सकता है।

३—अन्य इन्द्रियों के अनुभवों को यह अपना लेती है। यतः इसे अन्य इन्द्रियों के साथ कार्य करना पड़ता है अतः इस के अनुभवों और अन्य इन्द्रियों के अनुभवों में परस्पर सम्बन्ध जुड़ जाता है। और चूंकि इस का प्रयोग अन्य इन्द्रियों से हमें अधिक करना पड़ता है इस लिये पदार्थों के देखने मात्र से हमें उन पदार्थों सम्बन्धी अन्य इन्द्रियों के अनुभव स्मरण हो जाते हैं, एक पदार्थ के रङ्ग रूप को देख कर हमें उस

की कोमलता तथा खुरदरे पन का ज्ञान भी होने लगता है। सेब के देखने पर उस का रङ्ग रूप हमारी रसना को जागृत कर देता है और हमारे मुंह में पानी भर आता है। इसी प्रकार पदार्थों को देख कर उन की दूरी का भी हमें अनुभव होता है जो कि दृष्टि का अपना अनुभव नहीं है।

चक्षु की रचना

चक्षु की विस्तृत शारीरिक रचना का विषय शरीर रचना शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। अतः यहां हम संक्षिप्त विवरण उसी सीमा तक लिखेंगे जहां तक कि मनोविज्ञान शास्त्र के लिये अपेक्षित है। विद्यार्थियों को आंख की रचना की विस्तृत व्याख्या महाशय त्रिलोकीनाथ की पुस्तक "हमारे शरीर की रचना" के दूसरे भाग में देखनी चाहिये। आंख की बनावट अधिकांश फोटो के कैमरे की रचना के साथ मिलती जुलती है, इस में भी ताल परदा या प्लेट प्रकाश की किरणों को ग्रहण करने के लिये प्रबन्ध तथा पदार्थ के चित्र उतारने के लिये आंख में सङ्कोच और विस्तार पैदा करने के साधन इत्यादि उपस्थित होते हैं। चित्र को स्पष्ट रूप में उतारने के लिये जहां कैमरा में उस की अन्धेरी कोठरी की लम्बाई को कम या अधिक करना पड़ता है वहां वही कार्य चक्षु में ताल की मोटाई को कम या अधिक करने से निकलता है। आंख के गोले की रचना में प्रधानतया तीन पटल विद्यमान रहते हैं इन का रङ्ग पृथक् २ होता है।

१—आंख का सब से बाहरी पटल श्वेत रङ्गका होता है कड़ा

The Sclerotic तथा अपार दर्शक नज़र आता है। आंख का श्वेत भाग इसी से बनता है परन्तु इस के सामने का भाग एक चवन्नी के आकार का स्वच्छ और पारदर्शक नज़र आता है। इस पारदर्शक भाग को कनीनिका (Cornea) पुकारते हैं। इस पटल के पीछे दूसरा।

२—मध्य पटल (Choroid) रहता है इसका रङ्ग काला तथा

The Choroid उस की रचना कोमल और सूक्ष्म होती है इस में बहुत से तन्तु तथा खून की नालियां रहती हैं। इसी काले परदे के भीतर का भाग गोलाकार आंख का रङ्गदार साफ़ पर्दा (Iris) कहलाता है। यह एक प्रकार के द्रव से भीगा रहता है। इस के ठीक बीच में एक गोल छिद्र होता है जो फैलता हुआ और सिकुड़ता हुआ दिखाई देता है, इस छिद्र को आंख की पुतली या तारा (Pupil) कहते हैं। आंख के रङ्गदार पटल के इर्द गिर्द आंख के पठ्ठे रहते हैं जिन के कारण वह छिद्र घट बढ़ सकता है। इस रङ्गदार परदे के पहिले थोड़ी सी खाली जगह रहती है जिस में एक प्रकार का द्रव जल-रस (The Aqueous Humour) रहता है। प्रकाश की किरणें इस जल-रस को पार कर जाती हैं। रङ्गदार परदे और जल-रस के बीच में आंख का शीशा या ताल रहता है। यह ताल पारदर्शक

तथा युगुलोन्नतोदर (Biconvex) आकार का होता है। इस ताल के पीछे एक और गाढ़ा द्रव (The vitreous humour) भरा रहता है। ३-इस गाढ़े द्रव के पीछे आंख का तीसरा पटल (Ratina) जिसे ज्ञानी परदा भी कहते हैं रहता है। यह आंख का अत्यन्त आवश्यक भाग कहलाता है इस की रचना अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल रीति से की गई है यह ९-१० तहों से लिपटा रहता है इसी में चक्षु-नाड़ी (Optic nerve) के तन्तु, जाल के समान फैले रहते हैं इसी परदे में छोटी २ पतली पतली छड़ी और शिखा (Rods and Cones) के आकार की नलियां होती हैं, यही नलियां प्रकाश को ग्रहण करने का सामर्थ्य रखती हैं, इस ज्ञानी परदे के ऊपर दो विशेष बिन्दु नज़र आते हैं। एक का नाम पीत बिन्दु (Yellow spot) है। जब प्रकाश की किरणें वाह्य पटल के उज्वल भाग से गुज़र कर आंख के ताल को पार कर के इस पीले बिन्दु पर पड़ती हैं तो पदार्थ अपने स्पष्ट रूप में दीखने लग जाता है। इस बिन्दु में केवल शिखाकार की नालियां ही रहती हैं। दूसरे बिन्दु का नाम अन्ध बिन्दु (Blind spot) है। इस में छड़ी और शिखा आकार वाली दोनों प्रकार की नलियों का सर्वथा अभाव होता है। प्रकाश की किरणें जब इस बिन्दु पर एकत्रित होती हैं तो कुछ भी दिखाई नहीं देता।

नेत्रानुभव का वाह्य उद्भावक ईथर के अनुकम्पन हैं। ईथर एक सर्वव्यापी माध्यम स्वीकार किया गया है। जिस के द्वारा एक प्रकाशित अथवा स्वतः प्रकाशमान पदार्थ से प्रकाश की किरणें अनुकम्पनों द्वारा आंखों तक पहुंचती हैं। यह किरणें प्रथमतः कनीनिका पर पड़ती हैं और वहां से वे चक्षु के भीतर प्रवेश करती हैं जल-रस, तारा, ताल तथा स्वच्छ गाढ़े द्रव में से हो कर अन्तरीय दृष्टि पटल अथवा ज्ञानी परदे पर पड़ती हैं। ज्ञानी परदे में चक्षु नाड़ी को उन के द्वारा प्रोत्साहन मिलता है वह प्रोत्साहन मास्तिष्क में पहुंच कर दृष्टिकेन्द्र के पुष्प को जागृत करता है तत्पश्चात् हमें देखने का ज्ञान होता है।

नेत्रानुभव कैसे होता है?

आंख को साधारणतया दूरवर्ती अथवा निकटवर्ती पदार्थों को देखना पड़ता है। फोटो के केमरे के सम्बन्ध में यह बात देखी जाती है कि नज़दीक की वस्तु का स्पष्ट चित्र लेने के लिये हमें मोटे ताल की आवश्यकता पड़ती है और दूर वस्तु का चित्र लेने के लिये सूक्ष्म या पतले ताल की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त हम केमरा की अन्धेरी कोठरी को आगे पीछे करके चित्र की स्पष्टता में भेद ला सकते हैं। परन्तु आंख का ताल बदला नहीं जा सकता अतः प्रकृति ने आंख के ताल की ऐसी विचित्र रचना की है कि उसकी मोटाई स्वयमेव यथावसर घट बढ़ सकती है। साथ ही आक्षि-गोलक

नेत्रयोजना

को इधर उधर घुमाने के लिये ६ पेशियां लगी रहती हैं। इन पेशियों के सङ्कोच से आंख चारों ओर अच्छी तरह घूम सकती है, किसी पदार्थ को स्पष्टतया देखने के लिये आंख का इधर उधर फेरना तथा ताल का सङ्कोच और विस्तार जो निकटवर्ती तथा दूरवर्ती पदार्थ के देखने के लिये अपेक्षित होता है, नेत्रयोजना कहलाता है।

ज्ञानी परदे पर उलटा चित्र

जिस प्रकार फोटो के कैमरे में उसके अन्तरीय प्लेट पर उलटा चित्र बनता है उसी प्रकार मनुष्य की आंख में अन्तर्वर्ती ज्ञानी परदे पर उलटा चित्र स्थापित होता है। अब यहां पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ज्ञानी परदे पर उल्टा चित्र पड़ने की अवस्था में हमें चीजें सीधी क्यों नजर आती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कई लेखकों का यह कहना है कि ज्ञानी परदे के चित्र का देखने की क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। चित्र का सीधा उलटा होना एक शारीरिक क्रिया है जो देखने की क्रिया से पूर्व चक्षु की विशेष रचना से फलित होती है। यह ज्ञानी परदे का चित्र मस्तिष्क में नहीं पहुंचता, वहां तो केवल चक्षु नाड़ी का प्रोत्साहन ही पहुंचता है वास्तव में उस प्रोत्साहन के होने पर जो मानसिक व्यापार उपस्थित होता है उसका नाम देखना है। देखते समय आत्मा का सम्बन्ध सीधा बाह्य विषय के साथ रहता

है न कि चक्षु के अन्तवर्ती चित्र के साथ। कई अन्य लेखक अपना मत इस प्रकार भी प्रकाशित करते हैं कि ज्ञानी परदे से जो प्रोत्साहन मस्तिष्क में पहुंचता है वह उस परदे के चित्र का विस्तार-सम्बन्ध अपने साथ नहीं लाता। अतः पदार्थ का सीधा दीखना या तो हमारे अन्तरीय स्वभाव का फल है, या निरन्तर अभ्यास का।

आंख की मूल ज्ञान-सामग्री

यद्यपि आंख के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वह अन्य सब इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक ज्ञान-सामग्री उपलब्ध कराती है परन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। हम पहिले कह चुके हैं कि इस इन्द्रिय की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह अन्य सहकारी इन्द्रियों के अनुभवों को अपना लेती है अथवा उनको अपने अनुभव में सम्मिलित कर लेती है। इसका यह गुण हमारे इस भ्रम का कारण बनता है कि यह इन्द्रिय अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक ज्ञान प्रदान करती है। यदि अन्य इन्द्रियों द्वारा अपनाई हुई ज्ञान-सामग्री को पृथक् कर दिया जावे तो प्रकाश और वर्ण का ज्ञान ही चक्षु की मूल ज्ञान सामग्री अवशिष्ट रह जाती है। यदि इस बात का विश्वास न हो तो अपने आप को चक्षु-हीन कल्पना करके यह अनुमान करो कि तुम चक्षुओं के अभाव से कितने और किस प्रकार

के ज्ञान से वञ्चित रहते हो। अधिकांश नेत्रानुभव में स्नायुज अनुभव तथा त्वगेन्द्रिय अनुभव सम्मिलित रहते हैं। आंखों द्वारा जो गति का अनुभव हमें होता है तथा उस गति के मन्द, तेज़, ऊपर, नीचे आदि का जो ज्ञान हमें उपलब्ध होता है वह उन स्नायुज अनुभवों के कारण होता है जो आंख की पेशियों की गति के कारण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार पदार्थों की दूरी, उनकी घनता तथा वास्तविक परिमाण और आकृति का ज्ञान जो चक्षु देती हुई प्रतीत होती है वस्तुतः त्वगेन्द्रिय तथा स्नायुजों द्वारा प्राप्त होकर चक्षु द्वारा अपना लिया गया है।

भिन्न २ वर्णों का बोध

हम ऊपर लिख चुके हैं कि आंख का मूल कार्य वर्णों का बोध कराना है। भिन्न भिन्न वर्ण ईथर के अनुकम्पनों के संख्या भेद से प्रकट होते हैं। प्रकाश को त्रिपार्श्व द्वारा सात वर्णों में विभक्त किया जा सकता है। यह सात वर्ण इन्द्र धनुष में देखे जाते हैं इन की गणना इस प्रकार की गई है। "लाल, नारङ्गी, पीत, सबज़ (हरा) आकाशीय, नीला, बिनफ़शी" यह सब वर्ण भेद वैज्ञानिकों की दृष्टि में ईथर के अनुकम्पनों की गति भेद से प्रकट होते हैं उदाहरणार्थ लाल वर्ण का बोध ४६०० खर्व अनुकम्पनों से उत्पन्न होता है। और बिनफ़शी

वर्ण का बोध ७३०० खर्व अनुकम्पनों द्वारा पैदा होता है। इन सात वर्णों के छाया भेद से अन्य अनेक वर्ण उत्पन्न होते हैं। यह सात वर्ण ही पुनः तीन मूल वर्ण में विलीन किये जाते हैं। यह तीन मूल वर्ण लाल सबज़ और बिनफ़शी मिल कर पुनः श्वेत प्रकाश का बोध करवाते हैं। इन तीन मूल वर्णों को भी अनेक अनुपातों में मिलाने से अन्य सब वर्ण पैदा किये जा सकते हैं। एक चित्रकार की दृष्टि में मूलवर्ण लाल, पीत तथा नील यही तीन समझे गये हैं। इन तीन मूल वर्णों को यदि एक गोल आकृति वाले गत्ते पर पेंट कर के तेज़ गति से घुमाया जावे तो तीनों वर्ण सम्मिलित रूप में श्वेत रङ्ग का बोध कराएंगे।

वर्णान्धता

कर्णेन्द्रिय के प्रकरण में बतलाया जा चुका है कि न्यूनाधिक बहिरापन सब मनुष्यों में पाया जाता है अर्थात् सब मनुष्यों के कान वायु के अनुकम्पनों की समान संख्या ग्रहण करने का सामर्थ्य अपने अन्दर नहीं रखते। जितनी संख्या के अनुकम्पनों का कोई कान ग्रहण कर सकता है उतनी ऊंचाई का शब्द वह सुन सकेगा इसी प्रकार आंखों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। यह बात आश्चर्य जनक प्रतीत होती है कि कई लोक एक वर्ण का दूसरे वर्ण से भेद नहीं कर सकते। ऐसे लोक वर्णान्ध कहलाते हैं। कई लोकों को वह वर्ण जो

साधारणतया लाल कहा जाता है। हरा नज़र आता है। वे लाल और हरे में कोई भेद नहीं कर सकते। लाल वस्त्र और हरा वस्त्र उन की दृष्टि में समान होगा। इसी प्रकार कई मनुष्यों को वह वर्ण जो साधारणतया हरा प्रतीत होता है उन्हें सर्वदा लाल नज़र आता है। कोई २ व्यक्ति ऐसा भी देखा गया है जो सर्वथा वर्णान्ध है जिसे सब पदार्थ काले ही दीखेंगे या श्वेत। ऐसे अभागे मनुष्य के जीवनानन्द के सर्वथा अभाव की हम कल्पना कर सकते हैं। वर्णान्धता का कारण आंख की दोषयुक्त रचना ही होसकती है। जिन जिन वर्णों का हमें बोध नहीं हो सकता उन उन वर्णों के सम्बन्ध के ईथरीय अनुकम्पन हमारी चक्षु ग्रहण नहीं कर सकती। अभी तक वर्णान्धता का यही कारण बतलाया जाता है।

आंख के अन्ध बिन्दु का परीक्षण

यदि हमारी एक ही आंख होती तो हम अर्धान्ध होते। उस अवस्था में हमारे बिलकुल निकट का पदार्थ भी जो दूसरी आंख से थोड़ा सा भी ओझल होगा नज़र नहीं पड़ता। इस का अनुभव हमें एक आंख को बन्द कर के देखने से हो सकता है। दृष्टि ओझल पदार्थ को देखने के लिये हमें दूसरी आंख को मोड़ना पड़ेगा। इसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि हमारे ज्ञानी परदे पर एक ऐसा बिन्दु है जो प्रकाश से प्रभावित नहीं होता अर्थात् जो सर्वथा

प्रकाश की ग्रहण-शक्ति से हीन बिन्दु है। इस बिन्दु का स्थान वहां पर होता है जहां चक्षु-नाड़ी आंख में प्रविष्ट होती है।



अंध बिन्दु का परीक्षण

इस पुस्तक को हाथ भर की दूरी पर अपने सामने रखो बाईं आंख को बन्द करलो। इस ○ चित्र पर टिकटिकी लगाओ प्रथमतः तुम्हें दूसरे चित्र भी नज़र आएंगे। अब यदि पुस्तक को धीरे धीरे आंख के निकट लेते आईये और टिकटिकी में अन्तर न आने पावे तो शीघ्र ही + चित्र लुप्त हो जावेगा। ज्यों ही पुस्तक को और अधिक निकट लाएंगे तो × यह चित्र भी दृष्टि से ओझल हो जाएगा। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि इन दोनों चित्रों से प्रकाश की किरणें चल कर ज्ञानी परदे के अन्ध बिन्दु पर पड़ती हैं। जहां पर किरणों के पड़ने से पदार्थों का देखना नहीं हो सकता।

दृष्टि-क्षेत्र

यदि पुस्तक के पृष्ट पर किसी शब्द की ओर हम अपनी आंख की टिकटिकी लगाएं तो उस शब्द के अतिरिक्त भी ऊपर नीचे दाएं बाएं बहुत से शब्द हमें दृष्टि गोचर होते रहेंगे। यह सब मिल कर उस समय हमारा दृष्टि-क्षेत्र कहलाएगा एक समय में आंखें खोलकर देखने पर जो कुछ

हमें दृष्टि गोचर हो सकता है, उसी को दृष्टि का क्षेत्र कहते हैं। इस दृष्टि-क्षेत्र को हम माप भी सकते हैं, अपने सन्मुख काले तखते पर एक श्वेत बिन्दु की ओर टिकटिकी लगाओ उसी समय अपने दाएं ओर से पेन्सल दांई आंख की ओर धीरे धीरे लाओ जहां पेन्सल दृष्टि-गोचर होने लग जाए, उस स्थान का निशान कर लो इसी प्रकार पेन्सल को सिर के ऊपर से माथे की ओर से धीरे २ नीचे लाओ और उस के दृष्टि गोचर होने के स्थान का निशान करलो, पुनः बांई ओर तथा नीचे की ओर से पेन्सल को लाकर उन के दृष्टिगोचर स्थानों का निशान कर लो। उन निशानों से यदि रेखाएं सामने की ओर खिंची जाएं तो उनके अन्तर्गत का क्षेत्र उस व्यक्ति का दृष्टि-क्षेत्र कहलाएगा।

एक नेत्र-दृष्टि

एक आंख द्वारा वस्तु स्पष्ट नहीं दीखती। एक आंख द्वारा जो चित्र ज्ञानी परदे पर पड़ता है वह कई अंशों में उस चित्र से भिन्न होता है जो दो आंखों के प्रयोग से बने। बहुत से मनोविज्ञान-शास्त्र के विद्यार्थियों का यह मत है कि एक आंख द्वारा हमें पदार्थों के दो परिमाणों का ही ज्ञान हो सकता है। केवल विस्तार मात्र का ही बोध होता है। पदार्थों की घनता का ज्ञान एक आंख द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। इस समय एक आंख द्वारा देखने से जो न्यूनाधिक घनता का बोध हमें होता है वह वास्तव में दोनों आंखों के

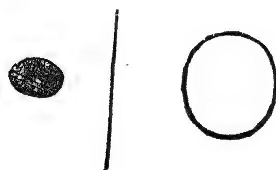
सम्मिलित प्रयोग के निरन्तर अभ्यास से उस आंख को प्राप्त हुआ है। अन्यों का यह मत है कि घनता का ज्ञान दृष्टि का स्वाभाविक धर्म है अतः एक आंख के प्रयोग द्वारा भी यह ज्ञान हमें प्राप्त होता है भेद केवल इतना होता है कि एक आंख द्वारा दो आंखों की अपेक्षा घनता का ज्ञान कम स्पष्ट होता है। कई अन्य विचारकों का इसके विपरीत यह सिद्धान्त है कि घनता का ज्ञान वास्तव में आंखों द्वारा प्राप्त ही नहीं होता। एक आंख से देखा जावे अथवा दो आंखों से देखा जावे, दृष्टि केवल धरातल (विस्तार) का ही ज्ञान करवाती है। तसिरा परिमाण अर्थात् घनता त्वगेंद्रिय का विषय है त्वचा द्वारा ही मूलतः उस का ज्ञान हमें प्राप्त होता है यतः पदार्थों का स्पर्श और उनका देखना बाल्यावस्था से हमें एक साथ प्राप्त होता रहता है अतः त्वगेन्द्रिय और नेत्रेन्द्रिय के अनुभवों का परस्पर अटूट सम्बन्ध जुड़ जाता है और वे अन्योन्य प्रेरक बन जाते हैं अर्थात् पदार्थ के देखने से त्वगेन्द्रिय के अनुभव घनता का भी साथ ही ज्ञान होने लग जाता है और हमें वह पदार्थ जहां लम्बा और चौड़ा दिखाई देता है वहां उस की मोटाई का भी अनुभव होने लगता है दूरी के अनुभव के सम्बन्ध में भी कुछ इसी प्रकार का विवाद मनोवैज्ञानिकों के सामने उपस्थित होता है। दूरी भी कई लोकों के मत में दृष्टि का स्वभाविक धर्म है वे लोक कहते हैं

आंख हमें दूरी दिखला सकती है परन्तु वास्तव में स्नायुज अनुभवों की सहायता से तथा शरीर के अङ्गों की गति तथा आयास के व्यय से दूरी का ज्ञान हमें प्राप्त होता है यह ज्ञान यतः अपना लेती है इसी कारण आंख द्वारा देखने से दूरी का ज्ञान भी उद्बुद्ध होने लगता है। डाक्टर चैसलडन ने एक जन्मान्ध बालक की आंखों का अप्रेशन किया था और अप्रेशन के सफल होने पर उस बालक की आंखें खुल गईं और वह देखने लग गया, परन्तु प्रारम्भ में उसे सब दृश्य पदार्थ अपनी आंखों से चपटे हुए प्रतीत होते थे, धीरे २ हाथों की गति तथा स्नायुजों के प्रयोग से उसे पदार्थों और अपनी आंख के बीच का अन्तर अनुभव होने लगा। यह परीक्षण इस स्थापना का समर्थन करता है कि दूरी दृष्टि का विषय नहीं है।

द्विनेत्र दृष्टि

साधारणतया हमें दो आंखों से देखने का अभ्यास होता है एक आंख से देखने और दो आंखों से देखने में बड़ा अन्तर प्रतीत होता है। यदि एक पैन्सल लेकर सीधा उसे अपनी आंखों के सामने खड़ा करें और बारी २ एक एक आंख से उसे देखें तो हमें यह स्पष्टतया प्रतीत होने लगेगा कि दांई आंख से पैन्सल का दांया भाग और बांई आंख से पैन्सल का बांया भाग अधिक दीखता है जब झट से दोनों आंखें खोल देते हैं तो दोनों आंखों द्वारा देखे हुए पैन्सल के पार्श्व

मिल जाते और उसका पूरा दृश्य दीखने लगता है। इस पूर्ण दृश्य को ही पदार्थ का तीनों परिमाणों (लम्बाई, चौड़ाई, गहराई) में दीखना (Seeing in relief) कहते हैं। यदि दो पैन्सलों को एक दूसरे के आगे पीछे खड़ा करके बारी २ एक २ आंख से उन को देखा जावे तो उपरोक्त कथन का समर्थन हो जावेगा। दो आंखों से देखते समय दांई बांई आंखों के चित्रों के मिल जाने से जो पदार्थ का पूर्ण दृश्य दीखता है, इस बात को घन चित्र-दर्शक (Stereoscope) द्वारा दर्शाया जा सकता है, घन चित्र दर्शक में दो चित्र मिल कर एक चित्र का ज्ञान कराते हैं और उस चित्र में घनता का भी बोध होता है। दो चित्रों के मिल जाने का परीक्षण एक अन्य रीति से भी हो सकता है।



उपरोक्त चित्र में यदि एक आंख से बिन्दु को और दूसरी आंख से छल्ले को टिकटिकी लगा कर देखें तो थोड़ी देर में वे दोनों बीच की लकीर पर मिल जांएगे। और बिन्दु छल्ले के बीच में नज़र आने लगेगा। आंखों की चञ्चलता के कारण वह बिन्दु एक स्थान पर बहुत देर तक स्थिर नहीं रह सकेगा।

यह प्रश्न भी मनोविज्ञान शास्त्र का एक अति मनोरञ्जक प्रश्न है कि जब हम दोनों आंखों से किसी एक वस्तु को देखते हैं तो दोनों आंखों के ज्ञानी परदे पर दो चित्र बनते हैं। परन्तु वस्तु हमें एक ही दिखाई देती है यह क्यों ? दो आंखों से एक ही वस्तु के स्थान में दो वस्तुएं क्यों नहीं दीखतीं ? इस प्रश्न के उत्तर में कई कल्पनाएं की गई हैं जिनका उल्लेख यहां कर देते हैं।

दो आंखों से एक चीज़ का दीखना

१–एक कल्पना यह है कि आरम्भ में हम दो ही चीज़ें दिखाई देती थीं परन्तु अभ्यास द्वारा दो चित्रों को हम एक वस्तु के साथ जोड़ने लग गए हैं।

२–दूसरी कल्पना यह है कि वास्तव में दोनों आंखों की रचना इस प्रकार की गई है कि वे मिलकर एक इन्द्रिय का काम देती हैं। दोनों आंखों के ज्ञानी परदों पर "समान तथा सदृश बिन्दु" पाए जाते हैं और जो चक्षु-तन्तु उन परदों से मस्तिष्क की ओर प्रोत्साहन ले जाते हैं वे रास्ते में मिल जाते हैं अतः मस्तिष्क के दृष्टि केन्द्र में अन्तिम एक ही सम्मिलित प्रोत्साहन पहुंचता है, इस लिये दो आंखों से एक वस्तु के देखने पर हमें एक ही का बोध होता है।

३–तीसरा मत इस प्रकार प्रकट किया जाता है कि यद्यपि दोनों आंखें भिन्न २ चित्र देखतीं हैं तथापि हम एक

समय में एक ही आंख के चित्र की ओर ध्यान लगा सकते हैं, इसी कारण एक चीज़ का बोध होता है यह मत अधिकांश काल्पनिक ही प्रतीत होता है। इस में सन्देह नहीं कि किसी वस्तु के देखने पर एक समय में एक आंख का दूसरी से अधिक प्रयोग होता है परन्तु यह कहना वास्तव में साक्षी का उलङ्घन करना होगा कि हमारी ध्यान शक्ति सारी केवल एक आंख के प्रयोग में ही लग जाती है। देखने की क्रिया दोनों आंखों से होती है यद्यपि विषय की ओर एक आंख की योजना दूसरी से अधिक अवश्य प्रकट होती है।

इन तीनों पक्षों में से दूसरे के सत्य होने में अधिक सम्भावना नज़र आती है, मनोविज्ञानवेताओं का बहुपक्ष भी इसी की पुष्टि करता है। जर्मनी के कई प्रसिद्ध शरीर विद्या के पण्डितों ने भी इसी का समर्थन किया है। हम पहिले भी कह आए हैं कि देखने की क्रिया का ज्ञानी परदे को चित्रों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। आत्मा देखते समय सीधा विषय के साथ सम्बन्ध जोड़ती है और जब दोनों आंखें मिल कर विषय को दिखलाने के लिये एक सङ्गठित साधन का काम देती हैं तो उस समय वाह्य पदार्थ का एक नज़र आना स्वतः सिद्ध ही है।

अनु प्रतिबिम्ब

जब किसी पदार्थ को हम देखते हैं और देख कर आंखें मून्द लेते हैं तो उस पदार्थ का प्रतिबिम्ब मानसिक दृष्टि से हमें कुछ देर दीखता रहेगा। जितना

वह पदार्थ अधिक चमकीला होगा उतना ही प्रतिबिम्ब की उज्वलता अधिक होगी। इस मानसिक प्रतिबिम्ब को अनु प्रतिबिम्ब (After-image) भी कहा जाता है। इस का कारण यह है कि वाह्य उद्भावक के दूर हो जाने पर आंखों के ज्ञानी परदे में उस के चित्र का प्रोत्साहन कुछ देर तक अपना कार्य करता रहता है। इसी लिये मानसिक प्रतिबिम्ब की स्थिति सम्भव होती है।

भ्रम ज्ञान

भ्रम ज्ञान भ्रम ज्ञान से तात्पर्य मिथ्या इन्द्रिय ज्ञान होता है अर्थात् वह प्रत्यक्ष ज्ञान जिस में विषय तद्वत् प्रतीत न हो। भ्रम ज्ञान दो प्रकार का गिनाया गया है १-साधारण भ्रम (Illusion) २-निराधार भ्रम (Hallucination)

साधारण भ्रम में वाह्य विषय की वास्तविक सत्ता रहती है परन्तु वह विषय अपने वास्तविक स्वरूप में प्रकट नहीं होता। निराधार भ्रम में मनुष्य को विषय का प्रत्यक्ष तो होरहा होता है परन्तु उस विषय की बाह्य सत्ता नहीं होती। भ्रम ज्ञान प्रायः सब इन्द्रियों के सम्बन्ध में उत्पन्न होता है परन्तु यहां हमें चाक्षुष भ्रम अथवा दृष्टि के भ्रमों से प्रयोजन है।

भ्रम ज्ञान के कारण भ्रम ज्ञान दो प्रकार के कारणों से उत्पन्न होता है। १-बाह्य कारण। २-आन्तरिक कारण। बाह्य कारण पुनः दो विभागों में विभक्त किया गया है। १-इन्द्रिय की रचना का

दोष अथवा इन्द्रिय विकृति, २–वाह्य परिस्थिति का विकार।

आन्तरिक कारणों से हमारा तात्पर्य्य उन मानसिक संस्कारों से है जो भ्रम ज्ञान पैदा करने में साधनभूत बनते हैं। जैसे भय प्रेम इच्छा पक्षपात आशा इत्यादि। मानसिक संस्कारों द्वारा जो भ्रम ज्ञान उत्पन्न होते हैं उन के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। संस्कारों के सम्बन्ध में यह बात भी भूल न जानी चाहिये कि उनके द्वारा जो भ्रम उत्पन्न होते हैं उनकी उत्पत्ति में बाह्य-विषय का भी कभी २ भाग होता है जैसे रज्जु में सर्प की भ्रान्ति। यहांपर जहां अन्तरीय भय रज्जु में सर्प का भ्रम करवाता है वहां रज्जु को सर्प के साथ सादृश्य भी उस भ्रम ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है। एक माता जो अपने पुत्र के वियोग में अत्यन्त शोकातुर हो रही है और प्रतिदिन उसके आगमन की आशा लगाए बैठी है। उसके लिये हर प्रकार की आहट पुत्रागमन की सूचक बन जाती है, दूर से आते हुए एक सदृश व्यक्ति को देखकर गद्गद हो जाती है उसकी आशा प्रतिदिन उसे इस प्रकार के भ्रम ज्ञान का अनुभव कराती है। कभी २ ऐसा भी देखने में आया है कि एक व्यक्ति भय या उत्कट इच्छा से इतना विवश हो जाता है, कि उसके मस्तिष्क में विकृति उत्पन्न हो जाती है और वह बिना किसी बाह्य विषय की सत्ता के कुछ न कुछ देखने लग

जाता है। शेक्सपियर के "मैकबथ" नामी नाटक में एक दो स्थलों पर ऐसा दृश्य दिखाया गया है जहां मैकबथ अपने पाप कर्म्मों से परितप्त होकर तथा अगाध हार्दिक भय से पीड़ित होकर अपने सन्मुख बैङ्कों का चित्र तथा तलवार का चित्र देखने लगता है जिनको हाथ फैला कर वह पकड़ नहीं सकता यह निराधार भ्रम का उदाहरण है।

इन्द्रिय विकृति जिसे भ्रम ज्ञान का कारण बताया गया है वह या तो चिरस्थायी होती है जैसे आंख की रचना के कई प्रकार के दोष, जैसे वर्णान्धता, निकट दृष्टि रोग तथा दूर दृष्टि रोग, पाण्डुरोग या क्षणिक जैसे अधिक प्रयोग से इन्द्रियों की श्रान्ति या किसी रोग के कारण उसकी विकृति। पाण्डु-रोग ग्रस्तियों को सब चीजें पीली दिखाई देती हैं। निकट दृष्टि तथा दूर दृष्टि के रोगियों को जो भ्रमज्ञान होता है उसके साधारण उदाहरण भी उन व्यक्तियों से ज्ञात हो सकते हैं जो इन रोगों से ग्रस्त हैं। लेखक को स्वयं इस बात का अनुभव है कि उपनेत्र (ऐनक) के सेवन करने से पूर्व उसे अपनी निकट दृष्टि के कारण कई विचित्र चाक्षुष भ्रमों का अनुभव करना पड़ा है जिन्हें स्मरण करके अब उसे हंसी आती है।

अन्तिम कारण भ्रम ज्ञान की उत्पत्ति का, परिस्थिति की विकृति अथवा उस की अनियमित दशा बतलाई जाती है। इस

कारण से उत्पन्न हुये भ्रम ज्ञान के भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, कोहर में यदि दूर से किसी आते हुए मनुष्य को देखें तो वह अपने असली आकार से बड़ा नज़र आता है। जिस रङ्ग की ऐनक किसी ने लगाई हुई हो उसी रङ्ग की सब चीज़ें नज़र आती हैं। यदि एक कमरे में बहुत बड़ा मेज़ रख दिया जावे तो उस कमरे का परिमाण छोटा दीखने लग जाएगा। एक छड़ी को जब पानी में डुबोते हैं तो वह टेढ़ी नज़र आती है जब कोई नया मकान बन रहा हो तो दिवारों के खड़ा करने से पूर्व यदि उस के अन्तर्गत भूमि का परिमाण देखा जावे तो बहुत छोटा नज़र आता है। किसी छोटे से स्थान में यदि छोटी छोटी बहुत सी वस्तुएं रख दी ज़ावें तो वह स्थान बड़ा दीखने लग जाता है। एक बहुत छोटे कद का मनुष्य यदि एक बहुत बड़े कद वाले मनुष्य के साथ खड़ा कर दिया जावे तो छोटा बहुत छोटा प्रतीत होगा और लम्बा बहुत लम्बा प्रतीत होगा। दर्पण के देखने से अपने आप को दर्पण के अन्दर देखना यह भी एक प्रकार का भ्रम है। एक दर्पण के सन्मुख दूसरे दर्पण को रख कर यदि उन के मध्य में एक जलती हुई बत्ती को रख दिया जावे तो दोनों दर्पणों में जलती हुई बत्ती की दो कतारें नज़र आने लग जावेंगी। प्रतिध्वनि भी एक प्रकार का भ्रमज्ञान है। कतिपय चित्रों को दे कर यह बतलाइये कि उन से हमें क्या भ्रमज्ञान होता है ? और कैसे ?

नवम अध्याय

त्वगेन्द्रिय

स्पर्शानुभव

त्वगेन्द्रिय का कार्य हमें स्पर्श का अनुभव कराना है इस इन्द्रिय का कोई निश्चित स्थान शरीर में नहीं, सारा शरीर ही स्पर्श का अनुभव दे सकता है। शरीर के चर्म में अनेक तन्तुओं के अनुभाग रहते हैं वे जब किसी पदार्थ को छूते हैं तो हमें स्पर्श का अनुभव होता है। साधारणतया स्पर्श का अनुभव छूने वाले पदार्थ के दबाव से होता है त्वगेन्द्रिय के अनुभव में अन्य कई अनुभव भी सम्मिलित रहते हैं, जैसे-(१) आन्तार्विषयक अनुभव (शरीर के अन्तर्वर्ती अङ्गों से सुख दुःख का अनुभव, श्वासोच्छ्वास, रक्त के संचलन आदि का अनुभव)। (२) शीतोष्ण का अनुभव। (३) साधारण स्पर्श का अनुभव। (४) स्नायुज अनुभव।

त्वगेन्द्रिय का महत्व

त्वगेन्द्रिय का महत्व समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम यह देखें कि अन्य इन्द्रियां उसकी किस अंश में ऋणी हैं। १-अन्य सब इन्द्रियें अपने अनुभव देने के लिये किसी न किसी रूप में त्वगेन्द्रिय की शरण लेती हैं जैसे रसनानुभव के लिये रसयुक्त पदार्थ का हमारी जिह्वा के साथ स्पर्श आवश्यक है, गन्धानुभव के लिये सुगन्धित पदार्थ का

नासिका के साथ स्पर्श आवश्यक है, तथैव शब्दानुभव के लिये वायु के अनुकम्पनों का हमारे कर्ण के साथ स्पर्श आवश्यक है, इसी प्रकार देखने के लिये भी ईथर के अनुकम्पनों का हमारी चक्षु के साथ स्पर्श आवश्यक है। २–अन्य इन्द्रियों को अपने अनुभवों की साक्षी के लिये त्वगेन्द्रिय का आश्रय लेना पड़ता है, हम अपने चाक्षुष अनुभव अथवा श्रौत्र अनुभवों को स्पर्शानुभवों की सहायता से सिद्ध अथवा असिद्ध कर सकते हैं जो चीज़ देखने में कोमल नज़र आती है उसको छूकर के हम इस अनुभव का निश्चय कर सकते हैं। इसी प्रकार एक बजते हुए पदार्थ की अवाज़ को सुनकर हमें उसके ठोस अथवा खोखलेपन का ज्ञान होता है, इस ज्ञान की पुष्टि हम उस पदार्थ के स्पर्श से कर सकते हैं।

त्वचा की अनुभवशीलता

हम ऊपर कह चुके हैं कि त्वचा का अनुभव सारे शरीर से होता है तथा उस अनुभव का कारण स्पर्श करने वाले पदार्थ का दबाव समझा जाता है कई व्यक्तियों में त्वचा इतनी सचेत होती है कि पदार्थ के शरीर को छूने से पूर्व ही उसके स्पर्श का अनुभव होने लग जाता है, शरीर के सब अङ्गों द्वारा त्वचा का अनुभव एक समान नहीं होता। शरीर का कोई भाग अधिक सचेत होता है और कोई कम, इस बात का समर्थन एक साधारण परीक्षण

द्वारा किया जाता है। एक प्रकार (Compasses) लो और उसकी दोनों नोकों को पृथक पृथक शरीर के किसी भाग पर रखो और यह देखने का प्रयत्न करो कि कितने अन्तर पर दोनों नोकों की पृथकता का अनुभव हमें होता है। यह अन्तर शरीर के भागों में भिन्न २ निश्चित होगा। परीक्षण करते समय शरीर के निम्न स्थानों पर नोकों का अन्तर मालूम करो (१) जिह्वा का अग्रभाग (२) अंगुलियों के अग्रभाग (३) हाथ की हथेली (४) हाथ की पृष्ठ (५) मस्तक (६) गर्दन की पृष्ठ (७) बगल (८) कपोल (९) कान, उपरोक्त परीक्षण द्वारा यह भी सिद्ध हो जाएगा कि भिन्न २ व्यक्तियों में त्वचा की शक्ति भिन्न २ होती है। प्रज्ञा चक्षु मनुष्यों में त्वचा शक्ति आंखों वालों से अधिक उन्नत रूप में प्रकट होती है कारण यह है कि उन्हें अपनी आंखों का कार्य भी त्वचा से ही लेना पड़ता है, अन्धे की श्रवणशक्ति भी तीव्र हो जाती है।

त्वगनुभव का स्थान निर्देश

जब शरीर के किसी भाग से हमें त्वगनुभव होता है तो हम न्यूनाधिक उस भाग का निर्देश कर सकते हैं। जैसे रात्रि के समय एक व्यक्ति को बिछु काट ले तो उस का हाथ लगभग उसी स्थान पर जा पहुंचेगा कि जहां पर बिछु ने उसे काटा है यही बात स्पर्श की भी है। आंखें मून्द लेने पर भी यदि कोई आदमी हमारे शरीर के किसी भाग का

स्पर्श करे तो हमें उस भाग का झट ज्ञान हो जाता है। इस का कारण यह है कि शरीर के भिन्न २ भागों का स्पर्श एक समान नहीं होता। और हम अपने अभ्यास द्वारा उन के भेदों का निश्चय कर लेते हैं, हमारा यह अभ्यास कभी इस सीमा तक भी पहुंच जाता है कि शरीर के किसी विशेष अङ्ग के कट जाने पर भी यदि उस कटे हुए अङ्ग में त्वचा-तन्तु प्रोत्साहित हो जावें तो हमें उस अङ्ग का अनुभव होने लग जाता है। वे लोक जो रण में अपनी टांग या हाथ खो बैठते हैं उन्हें बहुत देर तक उस टांग या हाथ की सत्ता का समय २ पर बोध होता रहता है। उनके इस बोध का भी यही कारण होता है कि कटे हुए अङ्ग में त्वचा तन्तु किसी प्रकार से प्रोत्साहित हो जाते हैं। और चूंकि वे पूर्व काल में सर्वदा अपने प्रोत्साहिन के द्वारा उस अङ्ग का अनुभव कराते रहे हैं अतः अब भी उन का वैसा ही व्यवहार रहता है। यद्यपि त्वगनुभव का स्थान निर्देश हो सकता है परन्तु स्थान का ठीक २ निश्चय प्रायः नहीं होता, इस बात का समर्थन इस प्रकार किया जाता है कि कई बार जब शरीर के किसी भाग में खुजली होती है तो हमें उस भाग के खुजलाने से पूर्व कई अन्य निकटवर्ती भागों को खुजलाना पड़ता है। अन्ततः शनैः शनैः उस भाग पर पहुंचते हैं जहां वास्तव में खुजली हो रही है। इसी बात को यदि परीक्षण द्वारा सिद्ध करना हो तो एक पैन्सल

लेकर उसका अग्र भाग स्याही में डुबो लो, अब आंखें बन्द करके उसे अपने शरीर के किसी भाग के साथ छूकर हटा लो अब तुरन्त ही अपनी उङ्गली को उस स्थान पर ले जाओ जहां पर पैन्सल से स्पर्श किया था, तो हमारी उङ्गुली उस स्थान के ठीक ऊपर न पड़ कर इधर उधर निकट स्थान को ही छूएगी। यह अन्तर अनुभव के स्थान-निर्देश के ठीक २ न हो सकने का सबूत है। इसी प्रकार त्वचा के गड़बड़ा जाने का (Puzzling of the sense of touch) अनुभव अरस्तू के प्रसिद्ध परीक्षण द्वारा भी किया जा सकता है यह परीक्षण विद्यार्थी कई बार करते हैं, और अति साधारण है पहिली और दूसरी अङ्गुली को एक दूसरे के ऊपर नीचे लाओ और दोनों उङ्गलियों के बीच में एक पैन्सल को धीरे २ छुओ तो दो पैन्सलों का बोध होगा।

गति का स्पर्श पर प्रभाव

स्पर्श यदि गति के साथ मिला दिया जावे तो उस का अनुभव अधिक स्पष्ट ज्ञान को देवेगा। उदाहरणार्थ जब तुम अपने हाथ की हथेली मेज़ पर रखते हो तो उसका स्पर्श तुम्हें मेज़ की पृष्ठका साधारण बोध करवाता है परन्तु यदि अपने हाथ को उस के ऊपर रगड़ो तो तुम्हें उस पृष्ठ की समता तथा विषमता का भी ज्ञान होने लगेगा। स्पर्श के साथ गति के मिलने से हमें देश का ज्ञान भी होता है। पदार्थ का आकार भी ठीक २ स्पर्श उसी अवस्था में अनु-

भव करा सकता है जब कि गति का समावेश उस में हो।

प्रति क्रिया-काल प्रत्येक इन्द्रियानुभव की उत्पत्ति पर जो क्रिया उत्पन्न होती है उसे हम प्रतिक्रिया कहते हैं। परन्तु अनुभव के होने और क्रिया के उत्पन्न होने के बीच में जो कालान्तर रहता है उसे प्रतिक्रिया काल कहते हैं। यह प्रतिक्रिया काल साधारण तथा इतना अल्प होता है कि वह किसी गणना में नहीं आता, परन्तु परीक्षण द्वारा इस की सिद्धि की जा सकती है। एक श्रेणी के सब विद्यार्थियों को (एक वृत्त) गोलाकार के रूप में खड़ा कर दो और प्रत्येक विद्यार्थी अपने दाएं ओर के विद्यार्थी की गर्दन पर अपनी दाएं हाथ की उङ्गली रख देवे उन में से एक के बाएं हाथ में घड़ी देदो ताकि वह समय का अन्दाज़ा लगा सके। अब यदि वह विद्यार्थी अपने दाएं ओर के विद्यार्थी की गर्दन को उङ्गली से दबाए और दाएं ओर वाला विद्यार्थी इसी प्रकार अगले विद्यार्थी की गर्दन को अङ्गुली से दबाए और इसी भान्ति सब विद्यार्थी अपने दाएं ओर के विद्यार्थी के प्रति यह व्यवहार करते जाएं तो अन्ततः उस पहिले विद्यार्थी की गर्दन पर दबाव पहुंचेगा कि जिसने कि उस क्रिया को प्रारम्भ किया था। अब यदि वह क्रिया के शुरू करने तथा अपने पर उस क्रिया के अन्त होने का समय देख लेवे और सारे समय को विद्यार्थियों की संख्या से भाग देवे तो प्रत्येक विद्यार्थी के

अनुभव के प्रतिक्रिया-काल का अन्दाज़ा लग जावेगा। साधारण-तया तीस विद्यार्थियों को इस प्रकार की वृत्त क्रिया को समाप्त करने में दस सैकिण्ड का समय लगता है। प्रतिक्रिया-काल में वस्तुतः तीन प्रकार का काल सम्मिलित रहता है पहिले तन्तु के प्रोत्साहन ग्रहण करने तथा उस को मस्तिष्क में पहुंचाने का काल (शारीरिकव्यापार का काल), दूसरे मस्तिष्क में कोष्ठों की जागृति तथा इन्द्रियानुभव (Sensation) उत्पन्न होने का काल (मानसिक व्यापार का काल), तीसरे मानसिक व्यापर के पश्चात् पुनः क्रिया वाहक तन्तुओं के प्रोत्साहन का बाहिर की ओर जाने का काल। यद्यपि प्रति-क्रिया-काल की ओर साधारणतया हमारा ध्यान नहीं जाता, तथापि वैज्ञानिक लोक इस काल की अपने परीक्षणों में गणना किये बिना अपने परीक्षणों की सत्यता का विश्वास नहीं करते। कई वैज्ञानिक निरीक्षणों के परिमाणों में यह काल बड़ा अन्तर डाल देता है जैसे ज्योतिष-शास्त्र के परीक्षणों में। इस प्रतिक्रिया–काल का क्रियात्मक उप-योग कई व्यायाम तथा खेलों के सान्मुख्यों में किया जाता है विशेष कर के दौड़ के सान्मुख्य में। दौड़ने का अभ्यास करने वाले प्रायः एक, दो, तीन कहलवा कर दौड़ने का अभ्यास करते हैं। इस में उन का प्रयोजन यही होता है कि सान्मुख्य से पूर्व वह अपने प्रतिक्रिया-काल को थोड़े से थोड़ा बना सके।

गुदगुदी भी स्पर्श का ही एक रूपान्तर है, इस का अनुभव मनुष्य को अति रुचिकर प्रतीत होता है। शरीर के किसी सचेत अङ्ग पर यदि धीरे से अंगुलियों को स्पर्श किया जावे तो हमें गुदगुदी का अनुभव होता है। इस अनुभव का कारण वास्तव में एक तो स्पर्श की कोमलता, दूसरे त्वचा के कई भागों की एक ही समय में विच्छिन्न स्पर्शता है, जिस के कारण त्वचा तन्तुओं को बारम्बार शीघ्रता पूर्वक प्रोत्साहन मिलता है।

गुदगुदी का अनुभव

शीतोष्ण को भी त्वगनुभव का ही रूपान्तर कहा गया है। इस का कारण यही प्रतीत होता है कि इस प्रकार का अनुभव भी हमें स्पर्श द्वारा प्राप्त होता है। वास्तव में जो खोजना आधुनिक वैज्ञानिकों ने की है उस के अनुसार शीतोष्ण अनुभव का कारण विशेष प्रकार के कण हैं जो त्वचा के साथ २ सारे शरीर पर फैले रहते हैं, इन्हें शीतोष्ण कण (Temperature spots) कहते हैं। शीत-कण और उष्ण-कण भिन्न २ संख्या में शरीर के भिन्न २ भागों में पाए जाते हैं। जिन भागों में उष्ण कण अधिक विद्यमान रहते हैं उन भागों द्वारा अधिक उष्णता का अनुभव होता है। जिन भागों में शीत-कण अधिक पाए जाते हैं उन के द्वारा अधिक शीत का अनुभव होता है। शीत

शीतोष्ण अनुभव तथा त्वचा



चित्र

शीतकण



चित्र

उष्णकण

ऋतु में हम प्रायः अपने हाथ और कान ढांप कर रखते हैं परन्तु हम अपने कपोल नहीं ढांपते क्योंकि वे गर्मी के लिये सचेत होते हैं। शीत केवल उन्हें रक्त के संचलन के कारण अधिक उज्वल कर देता है, शीतोष्ण कण सर्वथा एक दूसरे से पृथक नहीं मिलते। केवल इतनी बात ही है कि एक स्थान पर जहां शीत-कण अधिक पाए जाते हैं वहां उष्ण-कण कम मिलते हैं, इसी प्रकार जहां उष्ण-कण अधिक होते हैं वहां शीत-कण कम उपलब्ध होते हैं। शीतोष्ण का अनुभव वास्तव में एक सापेक्ष अनुभव है। जो पदार्थ हमारे शरीर से अधिक गर्म होगा वह हमें गर्म मालूम होगा, जो अधिक सर्द होगा वह शीत मालूम होगा।

शीतोष्ण अनुभव के लिये जल-परीक्षण

प्रायः इस परीक्षण को सब विद्यार्थी जानते हैं। तीन पानी के प्याले हम लेते हैं। एक बहुत गर्मजल का, दूसरा अधिक शीत जल का, तीसरा कोष्ण जल का। अब हम एक हाथ को गर्म जल

में, दूसरे को ठण्डे जल में थोड़ी देर के लिये रखते हैं पुनः दोनों हाथों को निकाल कर तीसरे कोष्ण जल में डाल देते हैं तो हमें यह साधारण जल एक समय में गर्म सर्द दोनों प्रतीत होगा। यह क्यों ?

प्रश्न

शीत तथा उष्ण कणों के भेद की स्वीकृति भौतिकी की उस कल्पना को कैसे सिद्ध करती है जिस के अनुसार गर्मी सर्दी को अन्ततः एक ही पदार्थ माना गया है ? शरीर के साधारण ताप (Normal Temperature) से क्या तात्पर्य्य है ? चिकित्सक लोग इस का क्या प्रयोग करते हैं ? कभी २, ७० दर्जे के ताप वाला गर्म कमरा हमें बहुत गर्म प्रतीत होता है, अन्य समय में वही कमरा उसी ताप पर हमें ठण्डा प्रतीत होता है, इस का क्या कारण है ?

मस्तिष्क का कार्य्य करने से हमारे शरीर का ताप बढ़ जाता है, इस लिये दिमाग़ी काम करने वाले को ठण्डे स्थान पर रहना उचित होता है। साधारणतया दिमाग़ी काम करने के लिये ६६–६७ दर्जे के ताप वाले कमरे में कार्य्य करना चाहिये।

स्नायुज अनुभव

स्नायुज अनुभव, पट्ठों के अन्तवर्ती तन्तुओं के प्रोत्साहन से उत्पन्न होते हैं। जब तुम एक भारी चीज़ को उठाने का प्रयत्न करते हो तो उस समय पट्ठों के आयास तथा खिचाव का विशेष अनुभव होता है यह अनुभव उस चीज़ के भार के अनुभव से पृथक है।

चक्र गति का अनुभव

चक्र गति का अनुभव भी एक विशेष अनुभव है। एक ही ओर कई बार घूमने के पश्चात् जब हम खड़े हो जाते हैं तो हमारे इर्द गिर्द की सब चीज़ें कुछ समय तक उसी ओर घूमती हुई प्रतीत होती हैं। छोटे बच्चे चक्र गति का खेल बहुत करते हैं। कई बार वह इतनी देर तक चक्र लगाते हैं कि उन का जी मतलाने लग जाता है इस चक्र गति के अनुभव का क्या कारण होता है ? शरीर-विद्या के पण्डित बतलाते हैं कि चक्र गति द्वारा हमारे कान के अन्तवर्ती अर्द्धवृत्ताकार की नालियों के द्रव में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है और जब तक वह क्षोभ रहता है तब तक उस चक्र गति का अनुभव हमें होता रहता है, यदि उस क्षोभ के साथ रसना नाड़ी का क्षोभ भी संम्मिलित हो जाए तो एक प्रकार के जी मतलाने का अनुभव होने लग जाता है इसे समुद्ररोग (Sea-sickness) भी कहा जाता है।

दशम अध्याय

ध्यान *Attention*

पूर्व अध्यायों में यह दर्शाने का प्रयत्न किया गया था कि इन्द्रियों द्वारा हम ज्ञान सामग्री कैसे उपलब्ध करते हैं तथा प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा हमें कितना और किस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है ? अब आगे उन मानसिक क्रियाओं के विधान का वर्णन किया जावेगा जिनके द्वारा हम पूर्व उपलब्ध ज्ञान सामग्री को उन्नत तथा क्रम बद्ध चिन्तन का रूप देते हैं। क्रम बद्ध विचार के लिये पहिली आवश्यकता यह होती है कि हम अपनी ज्ञान सामग्री का चुनाव कर सकें अर्थात् हमारा मन आवश्यक अनुभवों की ओर एकाग्र हो सके। जिस आत्मा में इस प्रकार की एकाग्रता की शक्ति नहीं होती वह विक्षिप्त आत्मा कहलाती है। और क्रम बद्ध चिन्तन का कार्य उससे नहीं हो सकता।

ध्यान का लक्षण

चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। साधारणतया यह शक्ति हमारी चेतनता में व्याप्त रहती है इसका प्रकाश समय २ पर होता रहता है, जब कोई विषय हमारे मन को आकर्षण करता है

तो मनोवैज्ञानिक परिभाषा में इस घटना को उस विषय के प्रति चेतना का झुकाव कहते हैं। यह झुकाव की प्रवृति कभी अधिक कभी कम आवश्यकता तथा अवस्थानुसार प्रकट होती रहती है। जिस परिस्थिति से हम घिरे रहते हैं, उसका आकर्षण हम किसी न किसी रूप में अनुभव करते हैं, ध्यान उसी आकर्षण का अन्तरीय फल है। ध्यानावस्था में हम एक विषय की ओर अन्य विषयों की अपेक्षा अधिक प्रवृत्त होते हैं, जिस का सीधा परिणाम यह होता है कि हम उस विषय के सम्बन्ध में स्थिर तथा पूर्ण विचार कर सकते हैं। सारा विज्ञान तथा दर्शन जो मनुष्य

ध्यान शक्ति की उपयोगिता

के क्रमबद्ध चिन्तन का फल है अन्ततः वे मनुष्य की इसी ध्यान शक्ति की ही उपज हैं यदि मनुष्य में ध्यान शक्ति का अभाव होता तो मनुष्य प्रत्येक क्षण में किसी न किसी बाह्य उद्भावक का ही शिकार बना रहता और वह असभ्य अवस्था से ऊपर उठने के योग्य कभी न बन सकता। सभ्यता की सारी सामग्री, कला कौशल तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कार तथा इतिहास साहित्य इत्यादि जिन पर मनुष्य यथोचित अभिमान करता है वे सब ध्यान शक्ति द्वारा ही उपार्जित किये गये हैं। ध्यान शक्ति ही मनुष्यों को पशु-सीमा से ऊंचा उठाती है।

प्रथमतः ध्यान का कोई न कोई विषय अवश्य होता है। यह विषय या तो मानसिक होगा अथवा भौतिक। मानसिक होने पर वह मनुष्य के अमूर्त (abstract) चिन्तन का प्रेरक होगा। भौतिक होने पर वह हमारे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का साधन होगा। कभी २ विषय भौतिक तथा मानसिक दोनों के सम्मिलित रूप में प्रकट होता है। एकाग्र चित्त होकर (ध्यान लगा कर) जब हम निबन्ध लिख रहे होते हैं तो उस समय हमारे ध्यान का विषय मानसिक अथवा अन्तरीय चिन्तन है। जब बजता हुआ ढोल हमारे ध्यान को आकर्षित करता है तो उस समय हमारे ध्यान का विषय भौतिक अथवा इन्द्रिय गोचर पदार्थ है। परन्तु जब हम शतरञ्ज की खेल में ध्यान लगाए बैठे हों तो उस समय हमारे ध्यान का विषय मानसिक तथा भौतिक दोनों हैं। शतरञ्ज की सामग्री हमारे ध्यान का भौतिक विषय है, परन्तु खेल के नियमों का चिन्तन तथा उनके अनुसार शतरञ्ज के पात्रों को चलाना यह हमारे ध्यान का मानसिक विषय हैं। ध्यान शक्ति की दूसरी विशेषता यह है कि स्वभाव से वह बड़ी चञ्चल शक्ति है। ध्यान एक ही विषय में बहुत समय तक स्थिर नहीं रह सकता जब तक वह विषय अपने अन्दर से विकसित न हो अर्थात् अपने आपको नाना विध रूपों में प्रकट न कर सके। कहने का तात्पर्य यह

ध्यानावस्था की विशेषता

है कि जब तक कोई विषय अपने आपको मनोरञ्जक रख सकता है तब तक ध्यान उसकी ओर आकर्षित रहेगा। ज्यों ज्यों उसका मनोरञ्जन कम होता जाएगा त्यों त्यों ध्यान उससे हटता चला जाएगा। एक नीरस, शुष्क तथा अरुचिकर विषय ध्यान को स्थिर रखने में असमर्थ होता है। घड़ी की ठिक टिक की तरफ़ ज़रा ध्यान लगा कर परीक्षण करलो, ध्यान की चञ्चलता स्पष्ट अनुभव होने लगेगी। कोई टिक ऊंची और कोई टिक नीची सुनाई देने का यही कारण है कि घड़ी की टिक टिक में ध्यान जम नहीं सकता। इसी प्रकार जब हम एक नीरस उपदेश को सुन रहे हों अथवा एक शुष्क पुस्तक को पढ़ रहे हों तो हमें ध्यान के इतस्ततः भ्रमण का परिचय मिलेगा।

ध्यान शक्ति के मुख्य आधार

ध्यान शक्ति साधारणतया दो बातों पर आश्रित रहती है। १—शारीरिक स्वास्थ्य। रोगी शरीर मन को भी रोगी बना देता है और रोगी मन में एकाग्रता की शक्ति कहां ? ध्यान लगाने में पर्याप्त शारीरिक शक्ति का व्यय होता है। ध्यान द्वारा हमारे शरीर की नसों और नाड़ियों पर विशेष परिश्रम पड़ता है अतः जिन व्यक्तियों की नसें तथा नाड़ियां रोगग्रस्त हो जाने से अथवा प्रलोभनों में फंस जाने से पहिले ही शिथिल हो चुकी हों वे ध्यानावस्थित होने के कठिन कार्य को नहीं कर सकते। अच्छे स्वास्थ्य के लिये ब्रह्मचर्य का

पालन, शुद्ध वायु का सेवन, पर्याप्त निद्रा का ग्रहण तथा शरीर में शुद्ध रक्त के संचलन आदि की परम आवश्यकता रहती है। वास्तव में इन्हीं के द्वारा ध्यान शक्ति बढ़ती है। २-विषय (उद्भावक) दूसरी बात जिस पर ध्यान शक्ति अवलम्बित रहती है वह विषय है। विषय का स्वरूप तथा उस की तीव्रता अथवा राशि भी ध्यान को आकर्षण करने के साधन हैं। एक पीतल का बाजा हारमोनियम से अधिक आकर्षण रखता है यद्यपि साधारणतया विषय की तीव्रता ध्यान के आकर्षण करने में सहायक होती है परन्तु कभी कभी विषय की मन्दता तीव्रता से भी अधिक ध्यान को आकर्षण करती है जैसे नाटक की रङ्गभूमि (नेपथ्य) में परस्पर पात्रों का जनान्तिक वार्त्तालाप।

एक समय में क्या हम एक से अधिक विषय का ध्यान कर सकते हैं?

प्रायः यह पूछा जाता है कि हम एक ही समय में एक से अधिक विषयों का चिन्तन कर सकते हैं या नहीं? बहुतों का यह विचार है कि मन एक से अधिक पदार्थों का एक समय में चिन्तन नहीं कर सकता। परन्तु यहां हम पूछ सकते हैं कि एक से क्या तात्पर्य है? यदि एक केवल संख्या वाची है तो यह बात ठीक है क्यों कि जिस समय में हम एक विषय का ध्यान कर रहे हों उसी समय में दूसरा विषय उस ध्यान का विषय नहीं हो सकता। ध्यान यदि एकाग्रता का नाम है तो एकाग्रता

एक ही ओर हो सकती है। दो ओर एकाग्रता कहना विरोधाभास है। परन्तु हमारा अनुभव यह सिद्ध करता है कि एक ही समय में मनुष्य एक से अधिक चीजों की ओर ध्यान लगा लेता है जैसे एक हारमोनियम बजाने वाला एक ही समय में टांगों द्वारा बाजे की हवा भरता है, हाथों से उसे बजाता है और मुंह से, साथ के मित्रों से बात चीत भी करता है। यह क्यों? कारण इस में यह है कि उस ने अभ्यास द्वारा इन तीनों क्रियाओं को एक संघठन में बान्ध लिया है। उस के लिये यह तीन भिन्न २ क्रियाएं नहीं हैं अपितु एक व्यवस्थित रूप में उन तीनों का उस ने एकीकरण कर दिया है। अतः यह सिद्ध हुआ कि यदि एक से तात्पर्य एकत्व हो, तो हम यह कह सकते हैं कि एक ही समय में एक से अधिक विषयों की ओर हमारा ध्यान जा सकता है।

ध्यान के प्रकार

ध्यान दो प्रकार का होता है, १-ऐच्छिक ध्यान (Voluntary), २-अनैच्छिक ध्यान (Involuntary)। ऐच्छिक ध्यान में हम अपने आप को अपनी इच्छा से विषय की ओर प्रवृत्त करते हैं। विषय का आकर्षण हम नहीं अनुभव करते। परन्तु हमारी अपनी दूरवर्ती प्रयोजन की सिद्धि की अभिलाषा ही ऐच्छिक ध्यानकी प्रेरक बनती है। जैसे लक्ष्यकी प्राप्ति तथा यशआदि की इच्छा, ध्यान का यह प्रकार हमें

विषय का स्वामी बनाता है तथा हमारे अन्तरीय आयास और प्रयत्न का हमें इस में अनुभव होता है। जो ध्यान हम परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये एक शुष्क अरोचक विषय के तैय्यार करने में लगाते हैं वह ऐच्छिक ध्यान का उदाहरण है। अनैच्छिक ध्यान में हमारी अपनी इच्छा प्रधान नहीं रहती केवल विषय का प्राबल्य ही हमें अपनी ओर खींच लेता है। अनैच्छिक ध्यान में हम निष्क्रिय रहते हैं, और बाह्य विषय अपना स्वामित्व हमारे ऊपर जमा लेता है। अनैच्छिक ध्यान जब तक विषय का प्राबल्य रहता है तब तक वह स्थिर रहता है। ऐच्छिक ध्यान की अपेक्षा अनैच्छिक ध्यान स्वल्पकालिक होता है। पीतल का बाजा बजने पर जो हमारा ध्यान आकर्षित हो जाता है वह अनैच्छिक ध्यान का उदाहरण है। इसी प्रकार ऐच्छिक तथा अनैच्छिक ध्यान के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। कई मनुष्यों में पहिला तथा कईयों में दूसरा प्रधान रहता है। ऐच्छिक ध्यान मनुष्य जीवन की उन्नति के लिये अधिक आवश्यक तथा उपयोगी सिद्ध होता है। कई मनुष्य अनैच्छिक ध्यान की सीमा से ऊपर नहीं उठते। साधारणतया ये ध्यान के दोनों प्रकार युवावस्था में सम्मिलित रूप में मिलते हैं। परन्तु हमारी शिक्षा शन्नैः शन्नैः ऐच्छिक ध्यान को उन्नत करती रहती है।

ध्यान शक्ति की बृद्धि विद्यार्थियों की शिक्षा में अध्यापक का मुख्य प्रयोजन होना चाहिये, इस के बिना हमारी सारी शिक्षा निष्फल रहती है। बाल्यावस्था में बच्चा चल-प्रकृति (चंचल स्वभाव वाला) होता है। प्रत्येक दृश्य तथा शब्द उसको अपनी ओर खींच लेता है। अनैच्छिक ध्यान का वह अधिक प्रकाश करता है। धीरे २ उस में ऐच्छिक ध्यान का विकास तथा बृद्धि होने लगती है। अध्यापक को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि बालकों की ध्यान शक्ति के विकास के रास्ते में जो बाधाएं उपस्थित हों उन को दूर करे। यह बाधाएं दो प्रकार की होती हैं, शारीरिक तथा मानसिक। शारीरिक बाधाएं इस प्रकार की होती हैं जैसे शारीरिक निर्बलता, प्रतिकूल शारीरिक परिस्थिति इत्यादि। मानसिक बाधाएं भी इसी प्रकार स्वभाव की चञ्चलता तथा मन की साधारण अवस्था इत्यादि गिनाई जाती हैं।

ध्यान के नियम

हमारी ध्यान शक्ति कर्ड विशेष नियमों के आधीन रह कर काम करती है उन नियमों का संक्षिप्त वर्णन यहां पर किया जाता है।

१—"विषय प्राबल्य का नियम" जितना विषय (उद्भावक) अधिक प्रबल होगा उतना ही अधिक वह हमारे ध्यान को खैंचेगा इस नियम की सत्यता का

अनुभव हमें दिन में कई बार होता रहता है। जब एक कार्य में हमारा मन लगा हुआ हो तो एक दूसरे अधिक मनोरञ्जक कार्य के उपस्थित हो जाने पर हमारा मन उस में प्रवृत्त हो जाता है। शिक्षणालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों के सामने जब भी कोई प्रबल विषय उपस्थित हो जाता है तो वे पूर्व गृहीत विषय को छोड़ कर तुरन्त उस विषय की ओर आकर्षित हो जाते हैं। विषय-प्रावल्य के द्वारा ध्यान आकर्षित होने के नियम का उपयोग व्यापारी लोग खूब करते हैं, दुकानों पर मोटे २ रङ्गदार शब्दों में लिखे हुए इश्तिहार इसी नियम का क्रियात्मक प्रयोग हैं। कई पंसारियों की दुकानों पर अलमारियों में रखी हुई रङ्गीन बोतलें केवल ध्यानाकर्षण के लिये ही होती हैं। कई दुकानदार जाते आते ग्राहकों के ध्यान आकर्षण करने के लिये अपनी दुकानों के एक विशेष भाग को खूब सुसज्जित करके रखते हैं। उस दर्शनीय भाग में वह अपनी दुकान के नमूनों को चित्र विचित्र रूप में प्रकट करते हैं। पाठशालाओं में अध्यापक लोक भी जिस समय पाठ को मनोरञ्जकता पूर्ण रूप में प्रकट करते हैं तो इसी नियम का ही उपयोग ले रहे होते हैं, गणित का एक शुष्क से शुष्क पाठ भी रङ्गीन चाक की डलियों द्वारा काले तख़ते पर लिखने से मनोहर हो कर सुगम प्रतीत होने लगता है।

२-"कौतुक का नियय" जो विषय नवीन, विचित्र तथा अद्भुत होगा वह हमारे हृदय में कौतुक पैदा करने के कारण शीघ्र हमारे ध्यान को खेंच लेगा। एक वार जब गुरुकुल में एक मोटर आई थी तो उस समय सब विद्यार्थी और अध्यापक उसको देखने के लिये चले गये थे। यद्यपि दर्शकों में से कई लोगों ने पहिले मोटर को कई वार देखा हुआ था इस लिये उनके लिये मोटर एक साधारण बात थी। परन्तु फिर भी मोटर का गुरुकुल में आना एक नवीन और विचित्र घटना होने के कारण उनका ध्यान तुरन्त उसकी ओर खिच गया। नवीनता दो प्रकार से प्रकट होती है। (क) जब कभी एक असाधारण वस्तु साधारण अवस्थाओं में देखी जावे। (ख) जब कभी साधारण वस्तु असाधारण अवस्थाओं में देखी जावे।

गुरुकुल में मोटर को देखा जाना दूसरे प्रकार की नवीनता का सूचक था। व्यापार में इस नियम का भी अधिकांश प्रयोग किया जाता है। व्यापारी लोक प्रतिवर्ष माल के नये २ नमूने तय्यार करते हैं। नवीनता लोकों को आकर्षित करती है उनकी पाकटों को ढीला करती है और व्यापार खूब चलता है। क्या आप लोकों ने विदेशी व्यापारियों को नहीं देखा, वे लोक भारत वर्ष के ग्राम २ में फिर कर यहां के लोगों का पहिनावा देखते हैं। उसमें कुछ नवीनता का समावेश करके

वस्त्रों के नये नमूने बनाकर यहां हमारी मण्डियों में विकने के लिये भेज देते हैं। हमारे भोले देशीय भाई उनकी नवीनता पर मोहित हो जाते हैं और सस्ता माल देखकर अपने देश के बुने हुए कपड़े पहिरने छोड़ देते हैं। नवीनता के साथ २ विचित्रता भी ध्यानाकर्षण का साधन बन सकती है। मदारी लोग तमाशा दिखलाते समय कई विचित्र चीज़ों को दिखला कर दर्शकों का ध्यान अपनी ओर खींच लेते हैं। यह ध्यानाकर्षण उन्हें कई प्रकार का हस्त कौशल दिखलाने में सहायक बनता है, मन्त्र जन्त्र द्वारा रोगों को दूर करने वाले भी अपनी रहस्य पूर्ण बातों तथा क्रियाओं द्वारा रोगी के ध्यान को उसके रोग से हटा देते हैं और वह अपने आपको रोग मुक्त समझने लग जाता है। विज्ञान के अध्यापक भी वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा अपने विद्यार्थियों की जिज्ञासा को उत्तेजित करते हैं और इस प्रकार उनके ध्यान को अपने पाठ में आकर्षित करते हैं।

३—"परिमाण का नियम"—विषय का परिमाण जिस कद्र असाधारण होगा उतना ही शीघ्र हमारे ध्यान को आकर्षित कर लेगा। रास्ते पर जाते हुए यदि एक गधा और हाथी सामने से आ रहे हों तो हाथी हमारे ध्यान को पहिले अपनी ओर खींचेगा। इसी प्रकार यदि बाज़ार में एक वामन जा रहा

हो तो लोगों का ध्यान तुरन्त उस की ओर खिंच जाता है। समाचार पत्रों में विज्ञापनों के पृष्ठों पर यही नियम अङ्कित नज़र आता है। विज्ञापनों के शीर्षक मोटे अक्षरों में लिखे जाते हैं। अमेरीका में एक होटल वाले ने अपने होटल की इमारत अन्य सब इमारतों से ऊंची बनवाई थी ताकि यात्री लोग रेल से उतर कर स्टेशन से ही उस इमारत को देख लेवें। यह मुफ्त का विज्ञापन यात्रियों को उस की ओर आकर्षित करने में सहायक बनता था।

४–"अनुकूलता का नियम"–जो बातें हमारे जीवन-अभ्यास अथवा अकांक्षाओं के अनुकूल हों उन की ओर हम सुगमता पूर्वक आकर्षित हो जाते हैं। साहित्य का प्रेमी यदि किसी साधारण बात चीत में निमग्न हो और उसी समय यदि कोई मनुष्य किसी नई ताज़ी पुस्तक का ज़िकर छेड़ दे तो उस का ध्यान साधारण बात चीत से हट कर तुरन्त उस मनुष्य की ओर खिंच जावेगा। इसी प्रकार एक वैज्ञानिक जब यह सुन लेता है कि अमुक समाचार पत्र में एक नये आविष्कार का वर्णन छपा है तो वह अन्य सब कृत्यों को छोड़ कर उस समाचार पत्र के प्राप्त करने में लग जाता है। विद्यार्थियों में भी प्रायः यह देखा जाता है कि यदि कोई विद्यार्थी साहित्य के अन्तर में ऊंघता है तो दर्शन के अन्तर में खूब चौकन्ना हो जाता है, यदि

गणित के अन्तर में उपराम दीखता है तो विज्ञान के अन्तर में खूब सावधान हो जाता है इसका कारण उस की व्यक्ति गत अभिरुचि है परन्तु रुचिकर विषय से हमारा तात्पर्य उस विषय से होता है जिस की ओर पहिले हम ध्यान कई बार लगा चुके हैं। अरुचि कर विषय वह है जिस की ओर हम ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया। ध्यान के देने और न देने ही से प्रायः एक विषय रुचिकर अथवा अरुचिकर हो जाता है। यदि किसी विद्यार्थी का किसी विषय में मन न लगता हो तो अध्यापक को ऐसे उपायों का अवलम्बन करना चाहिये जिन के द्वारा उस के ध्यान को उस विषय में लगाया जा सके।

५–"प्रयोजन का नियम" जो वस्तुएं हमारे लिये अधिक उपयोगी हैं अथवा हमारे जीवन के किसी प्रयोजन को सिद्ध करती हैं वे हमारे ध्यान को अधिक आकर्षित करेंगी। जो विद्यार्थी अपने भावी जीवन में गणित का कोई प्रयोग नहीं देखता, उसे यदि गणित का अध्ययन करना पड़े तो उस विषय की ओर वह बहुत कम ध्यान देगा। जिस विद्यार्थी ने भावी जीवन में वकील बनना होता है वह उन्हीं विषयों में अधिक ध्यान दे सकेगा जो उस उद्देश्य पूर्त्ति में उसके सहायक होंगे।

प्रश्न विद्यालयों में विद्यार्थियों का पारितोषक देने का क्या तात्पर्य है उसके लाभालाभ बतलाओ ? क्या पारितोषक ही कर्तव्यपालन में सब से उत्तम प्रेरक हो सकता है ?

नम्बर देने की शैली क्या पारितोषिक देने का ही नाम नहीं ?

६–"परिवर्तन का नियम" ध्यान बहुत देर तक एक ही विषय में स्थिर नहीं रह सकता। ध्यानावस्था में एक ऐसी सीमा आ जाती है जब कि दिमाग़ श्रान्त होने लगता है इस लिये श्रान्ति के उत्पन्न होने से पूर्व ही यदि ध्यान को किसी अन्य विषय में थोड़ी देर लगा कर पुनः पहिले विषय की ओर खेंच लिया जावे तो इस परिवर्तन द्वारा श्रान्ति दूर हो जाएगी और ध्यान सुगम रीत्या बहुत देर तक उस विषय में लगाया जा सकेगा।

आकस्मिक घटनाओं तथा आशातीत पदार्थों की प्राप्ति पर हमारा ध्यान बड़े वेग से उनकी ओर खिंच जाता है। गुरूकुल में एक महानुभाव व्यक्ति का आगमन जिसके आने की किसी को आशा न थी सब गुरूकुल निवासियों के ध्यान खेंचने का कारण बना था। अन्य भी अनेक नियम ध्यान शक्ति के आकर्षण के सम्बन्ध में बतलाये जा सकते हैं परन्तु वे सब इन्हीं उपरोक्त नियमों का कोई न कोई रूपान्तर होंगे।

ध्यान और अभ्यास

मनुष्य अभ्यासों का पुतला है। उस का जीवन व्यवहार अभ्यासों द्वारा ही प्रकट होता है। अभ्यास अच्छे बुरे दोनों प्रकार के होते हैं मनुष्य के जीवन में ध्यान शक्ति तथा अभ्यास का परस्पर सम्बन्ध रहता है। ध्यान शक्ति के प्रयोग से

हम नए अभ्यास उत्पन्न करते हैं, और पूर्व उपार्जित अभ्यास हमारी ध्यान शक्ति के इस ओर अथवा उस ओर लगने का निर्णय करते हैं। कई मनुष्यों ने ध्यानावस्थित होने का इतना अभ्यास कर लिया होता है कि वे इस शक्ति के विचित्र चमत्कार दिखला सकते हैं। एक मनुष्य के विषय में कहा जाता है कि उस ने ध्यान की एकाग्रता को यहां तक बढ़ा लिया था कि वह अपने पास बजते हुए ढोल के शब्द को भी नहीं सुनता था। और १०-१२ भाषाओं में बोले हुए वाक्य वह बिना आयास ही पुनः सुना सकता था। यहां पर हम पुनः इस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं कि जब ध्यान शक्ति द्वारा अच्छे २ अभ्यासों को उपार्जित किया जा सकता है तो अध्यापक वर्ग को बच्चों की शिक्षा में इस शक्ति की वृद्धि की ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। सुशिक्षित मनुष्य का यही चिन्ह समझा जाना चाहिये कि वह सावधान रहने वाला हो तथा ध्यानपूर्वक अपने जीवन के कार्यों को करने वाला हो।

कृति शक्ति और ध्यान

जब कोई कार्य मनोरञ्जक न हो तो हमारी ध्यान शक्ति उस में नहीं लग सकती। परन्तु यदि उस कार्य का करना ही अभीष्ट है तो हमें बार बार ध्यान शक्ति को उस की ओर ले जाना ही पड़ता है इस काम में हमारी कृति शक्ति अथवा प्रयत्न हमें सहायता देते हैं। हम कृति शक्ति द्वारा ध्यान

शक्ति को इधर उधर मोड़ तो अवश्य सकते हैं परन्तु उसे एक विषय में एकाग्र नहीं रख सकते जब तक वह विषय अपने अन्दर से ही विकसित हो कर अपने नानाविध रूपों का आकर्षण हमारी ध्यान-शक्ति के सन्मुख उपस्थित न करे।

ध्यान शक्ति की श्रान्ति

किसी विषय में चिर काल तक ध्यान लगाये रखने से ध्यान शक्ति श्रान्त हो जाती है। इस ध्यान-श्रान्ति का उपयोग वशीकरण (Hypnotism) विद्या के जानने वाले बहुत लेते हैं। वशीकरण विद्या का पण्डित जब किसी के मन को काबू करना चाहता है तो प्रथम उस की ध्यान शक्ति को थका डालता है ध्यान-शक्ति के श्रान्त हो ज़ाने पर उस का मन धीरे २ शिथिल होकर वश में आ जाता है। और फिर वह वश करने वाले की सब प्रकार की प्रेरणाओं को स्वीकार करने लग जाता है। मैस्मरेज़म का तमाशा यदि कभी देखने का अवसर मिला हो तो आप लोगों को मालूम होना चाहिये कि मैस्मरेज़म करने वाला पहिले पहिल दर्शकों के ध्यान को कई बार कई रहस्य पूर्ण बातों में लगा २ कर थका डालता है। पुनः वह एक ऐसे व्यक्ति को दर्शकों में से चुन लेता है जो शीघ्र प्रभावित हो सके। उसे वह अनेक प्रकार की प्रेरणायें देकर कई अनैच्छिक हास्य पूर्ण कृत्य करने पर बाधित कर देता है।

ग्यारहवां अध्याय

स्मृति

गत अध्यायों में इस बात का विचार किया जा चुका है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा हम बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करते हैं। और ध्यान शक्ति द्वारा उस ज्ञान को अधिक विस्पष्ट रूप में लाते हैं। परन्तु यह ज्ञान हमारे किसी उपयोग का नहीं हो सकता जब तक कि हम उसे एकत्रित न रख सकें, उसमें परिवर्तन वृद्धि और जोड़ तोड़ न कर सकें, तथा पुनः उसे स्मृतिगोचर न ला सकें। यह कार्य स्मारक शक्तियों (Representative) का है जो अनुभावक शक्तियों (Presentative faculties) से मिलकर ही हमारे मानसिक जीवन का भाग बनती हैं। यह स्मारक शक्तियां स्मृति, कल्पना तथा विचार हैं। कई मनोवैज्ञानिकों ने उन्हें एक ही शक्ति स्वीकार किया है परन्तु वास्तव में वे उत्तरोत्तर और अधिक उन्नत दशाएं हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे साधारणतया स्मृति ज्ञान होता है। कल्पना शक्ति में स्मृतिज्ञान सम्मिलित रहता है परन्तु विचार क्रिया में स्मृति तथा कल्पना दोनों सम्मिलित रहते हैं। अब हम इन तीनों स्मारक शक्तियों का क्रमशः उल्लेख करेंगे।

स्मृति ज्ञान

अनुभूत विषय के संस्कारों की जागृति पर जो ज्ञान हमें होता है उसे स्मृति ज्ञान कहते हैं। यहां पर यह स्मरण रहना चाहिये कि जिस विषय का हमें प्राक् अनुभव नहीं हुआ उसका स्मरण नहीं हो सकता। स्मृति ज्ञान को हम एक सरल उदाहरण से प्रकट करते हैं। मान लो कि तुम बाज़ार में जा रहे हो वहां पर तुम्हें सामने से आता हुआ एक व्यक्ति दीख पड़ता है तुम उसे देखकर खड़े हो जाते हो और अपने आपको कहने लग जाते हो कि इस व्यक्ति को मैंने पहिले देखा हुआ है, परन्तु उसे कहां देखा था, कब देखा था, किन अवस्थाओं में देखा था इन बातों का स्मरण तुरन्त नहीं होता। थोड़ी देर उस व्यक्ति के चित्र को तुम अपने मस्तिष्क में घुमाते हो जहां २ उसको देखना सम्भव हो सकता था उन २ स्थानों का तुम स्मरण करते हो, जिस २ परिस्थित के अन्दर उस व्यक्ति का मिलाप तुम्हें सम्भव नज़र आता है उस २ का चित्र तुम अपनी मानसिक चक्षुओं के सामने लाते हो। अन्ततः तुम यह कह उठते हो कि आह यह वही व्यक्ति है जिसे मैंने दो वर्ष पूर्व बम्बई में देखा था और जिसके साथ मैं कई दिन एक ही कमरे में रहा था। इतना स्मरण हो जाने पर अन्य सब सम्बद्ध विचार अपने आप तुम्हें स्मरण आ जाते हैं। इस उदाहरण के विश्लेषण करने से हमें पता लगता है

कि सम्पूर्ण स्मरण क्रिया के लिये इन चार बातों की आवश्यकता होती है।

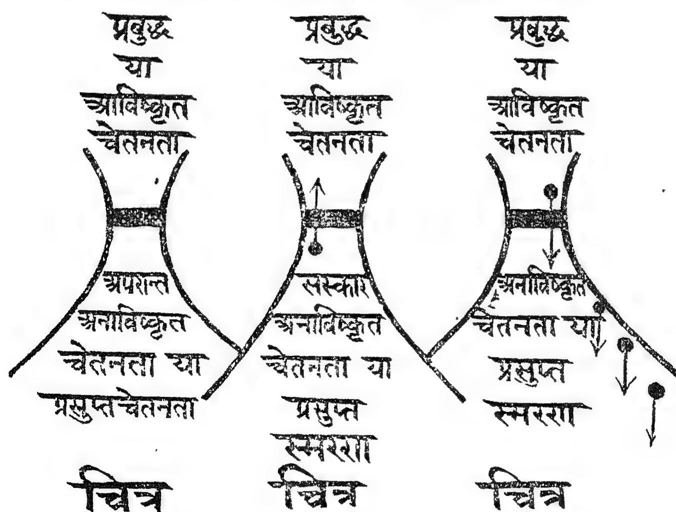
(क) अनुभूत विषय के संस्कार, (ख) संस्कारों का जागरण, (ग) प्रत्यभिज्ञा अर्थात् संस्कार जागृत पर यह अनुभव करना कि यह वही वस्तु है जो भूतकाल में मेरे अनुभव में आ चुकी है, (घ) संस्कारों के सम्बन्ध में यह निश्चय करना कि वे भूतकाल में कब और किस स्थान पर मुझे प्राप्त हुए।

संस्कारों की स्थिति तथा उन का जागरण प्रो० विलियम जेम्स के मतानुसार मस्तिष्क की कोष्ठ क्रिया के इस मौलिक सिद्धान्त पर निर्भर है कि जो कोष्ठ एक बार क्रिया कर चुके हों उन में पुनः क्रिया करने की प्रवृत्ति रहती है, हम जो अनुभव प्राप्त करते हैं उस की प्राप्ति पर मस्तिष्क के कोष्ठ उसका संस्कार ग्रहण कर लेते हैं और वे संस्कार जब कोष्ठ क्रिया की मूलप्रवृत्ति द्वारा जागृत हो जाते हैं तो हमें अनुभूत विषय का स्मरण होने लगता है। मस्तिष्क के संस्कारों के ग्रहण करने की शक्ति भिन्न २ व्यक्तियों में भिन्न २ होती है। यह आवश्यक नहीं कि जिन में यह शक्ति अधिक हो उन्हीं में संस्कारों के जागरण की शक्ति भी अधिक होगी। क्योंकि ऐसा देखने में आया है कि पागलों के मस्तिष्क में नये संस्कारों के ग्रहण करने की इतनी शक्ति नहीं होती जितनी कि पूर्व प्राप्त संस्कारों जागृत होने की शक्ति।

फोर्ब्स विन्सलो महाशय एक पागल के विषय में कहते हैं कि वह यह बतला सकता था कि उस के गाओं में पिछले पैंतीस वर्ष में कौन २ व्यक्ति कब २ मरा है, किस २ आयु में मरा है और मरने वाले का क्या नाम था और किस दिन उस को मरघट में लाया गया। और मरघट में लाते समय कौन २ लोग उस के साथ थे।

स्मृति का शारीरिक आधार मानने वाले यह स्वीकार करते हैं कि स्मरण शक्ति अधिकांश हमारे मस्तिष्क की कोष्ठ क्रिया पर आश्रित रहती है तथा हमारे शारीरिक स्वास्थ और मस्तिष्क की शक्ति की सहायता से उस का कार्य चलता है, इस में वे अनेक प्रमाण देते हैं जिन में से कतिपय यह हैं-(१) युवावस्था में जब हमारा मस्तिष्क तरो ताज़ा रहता है तो उस में संस्कारों के ग्रहण करने की शक्ति अधिक होने के कारण स्मरण भी अच्छी तरह हो सकता है। (२) वृद्धावस्था में जब मस्तिष्क में संस्कार शीलता कम हो जाती है तो स्मरण शक्ति भी बिगड़ जाती है। (३) कभी २ मस्तिष्क को आघात पहुंच जाने पर तथा मस्तिष्क के कई प्रकार के रोगों के कारण भी या तो स्मरण शक्ति का लोप हो जाता है या कम हो जाती है। (४) मस्तिष्क के विशेष केन्द्रों को हानि पहुंचने पर उन केन्द्रों द्वारा जो मानसिक ज्ञान प्राप्त होता है उस का अभाव हो जाता है तथा उस ज्ञान की स्मृति भी नहीं रहती।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से आलोचना करने वाले प्रायः संस्कारों का आधार चित्त या बुद्धि को स्वीकार करते हैं यह चित्त या बुद्धि चेतना का ही एक स्वरूप मानी जाती है। वे लोग चेतना के दो भाग स्वीकार करते हैं एक आविष्कृत और दूसरा अनाविष्कृत। जो संस्कार जागृत होकर इस समय हमें किसी भूतकाल के अनुभव का स्मरण करा रहे हैं वे उनके मतानुसार चेतनता के अनाविष्कृत भाग से आविष्कृत भाग में प्रविष्ट होते हैं। और जिन अनुभवों का इस समय विस्मरण हो रहा है वे वस्तुतः आविष्कृत भाग से अनाविष्कृत भाग में चले गए हैं। निम्न चित्रों से उपरोक्त कल्पना स्पष्ट हो जाएगी।



चित्र चित्र चित्र

प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृति ज्ञान में भेद।

प्रत्यक्ष ज्ञान	स्मृति ज्ञान
१. प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष आवश्यक होता है।	१. स्मृति ज्ञान में इस प्रकार के सन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नहीं होती।
२. प्रत्यक्ष ज्ञान अधिक स्पष्ट होता है।	२. स्मृति ज्ञान अधिक स्पष्ट नहीं होता।
३. प्रत्यक्ष ज्ञान हमारी इच्छा की अपेक्षा नहीं करता।	३. स्मृति ज्ञान हमारी इच्छा पर अवलम्बित रहता है।
४. प्रत्यक्ष ज्ञान में हमारी विचार शृङ्खला शीघ्रता से बन्ध जाती है।	४. स्मृति ज्ञान में संस्कार धीरे २ जागृत होते हैं और चेतना के प्रबुद्ध भाग में आते हैं।
५. प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्तमान काल से सम्बन्ध होता है।	५. स्मृति ज्ञान भूत काल से सम्बन्ध रखता है।
६. प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें विषय की बाह्यता में विश्वास रहता है।	६. स्मृति ज्ञान म यह विश्वास प्रसुप्त रहता है।

हम ऊपर के चित्रों में यह दिखा चुके हैं कि प्रसुप्त चेतना में से संस्कार जागृत होकर प्रबुद्ध चेतना में प्रवेश करते हैं और उसे स्मरण कहते हैं। और जब वे

स्मरण कैसे होता है?

प्रवुद्ध भाग से प्रसुप्त भाग में प्रवेश करते हैं तो उसे विस्मरण कहते हैं। परन्तु स्मरण क्रिया में हम यह देखते हैं कि एक संस्कार अन्य संस्कारों को जागृत करता है और वे अपनी बारी पर अन्य संस्कारों को उठाते हैं। यहां पर दो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं। (१) संस्कार ऐसा क्यों करते हैं? (२) संस्कारों का जागरण आकस्मिक होता है अथवा किन्हीं नियमों के आधीन? पहिले प्रश्न के उत्तर में यह कहना पड़ेगा कि कोई संस्कार अकेला अपने आप हमें प्राप्त नहीं होता। स्वतन्त्र असम्बद्ध, संस्कार की सत्ता ही अचिन्त्य है, प्रत्येक संस्कार किन्हीं अन्य संस्कारों के साथ साथ हमें ग्रहण होता है। जब हम एक व्यक्ति को देखते हैं तो हमें उस की आकृति, उस के वस्त्रों की विशेषता, उस की चेष्टाओं की विचित्रता तथा उस की बात चीत का ढंग इत्यादि कई बातों का ज्ञान होता है। इन सब बातों के संस्कार हमारे मस्तिष्क अथवा चित्त में पड़ते हैं। इन एक साथ (युगपत) उपलब्ध होने वाले संस्कारों में जागृति के समय एक साथ जागरण की प्रवृत्ति हो जाती है। अतः जब हम उस व्यक्ति को फिर किसी समय देखेंगे तो उस के देखने मात्र से उस की आकृति उस के वस्त्र उस की चेष्टाओं, उस के वार्त्तालाप इत्यादि के संस्कार जागृत हो जावेंगे।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में यह कहा जावेगा कि संस्कारों का

इस प्रकार जागरण कोई आकस्मिक घटना नहीं होती अपितु वह जागरण कई एक नियमों के आधीन होता है जिन को विचार-सम्बन्ध के नियम (Laws of association of ideas) कहते हैं। यह नियम दो प्रकार के गिनाए गए हैं। १–मूल नियम। २–गौण नियम। पहिले हम विचार-सम्बन्ध के मुख्य नियमों की व्याख्या करेंगे और वह ये हैं।

मूल नियम

विचार सम्बन्ध कहते समय इस बात को भूल न जाना चाहिये कि अन्ततः सम्बन्ध अनुभूत विषय में ही रहते हैं। जो सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान के समय बाह्य पदार्थों में देखे जाते हैं उन्हीं के अनुसार स्मृति ज्ञान में संस्कार अथवा विचार एक दूसरे को प्रबुद्ध करते हैं। यह सम्बन्ध तीन प्रकार के हो सकते हैं और उन्हीं के अनुसार नियमों का नाम रखा गया है।

(क) सहभाव सम्बन्ध—सहभाव देश या काल दोनों की दृष्टि से हो सकता है अतः यह सम्बन्ध सहचार और अनुक्रम दोनों का बोधक होगा।

(ख) सादृश्य सम्बन्ध।

(ग) विपर्य्यय अर्थात् विपरीतता का सम्बन्ध।

इन सम्बन्धों की दृष्टि से ही हम अब विचार-सम्बन्ध के नियमों का वर्णन करेंगे।

१-सहभाव का नियम इस प्रकार वर्णन किया जाता है

सहभाव का नियम
Law of Contiguity.

जो संस्कार एक साथ अथवा एक दूसरे के तुरन्त आगे पीछे प्राप्त किये गये हों वे एक दूसरे का स्मरण करवाते हैं जैसे मैंने अपने मित्र को जब २ देखा है तब २ उस की आंखों पर लगे हुए उपनेत्र को भी देखा है अतः जब उस के मुख का मुझे स्मरण होता है तो उस के उपनेत्र का भी स्मरण हो जाता है। एक व्यक्ति का नाम तथा उस की आकृति का संस्कार एक साथ प्राप्त होते हैं अतः नाम के उच्चारण करने पर उस व्यक्ति की आकृति का स्मरण हो जाता है। सेब का नाम सुनने पर उस की आकृति, उस की गन्ध तथा उस के स्वाद का स्मरण होने लगता है। जब मैं अपनी पिछली पर्वत-यात्रा का स्मरण करता हूं तो सहवर्ती संस्कारों के एक दूसरे को स्मरण कराने का स्पष्ट चित्र मेरे सन्मुख उपस्थित हो जाता है। काल की दृष्टि से सहभाव संस्कारों के अनुक्रम में प्रकट होता है जैसे अग्नि के देखने से उस के जलाने का स्मरण हो जाता है (कारण से कार्य के स्मरण का उदाहरण) बाज़ार में लड़खड़ाते हुए व्यक्ति को आते देख कर उस के शराब पीने का स्मरण हो जाता है (कार्य से कारण के स्मरण का उदाहरण)।

२-सादृश्य का नियम इस प्रकार वर्णन किया जाता है।

सादृश्य का नियम
Law of similarity.

प्रत्येक संस्कार अपने सामान्य संस्कार का स्मरण कराता है अथवा वर्तमान अनुभव

अपने समान भूतकालिक अनुभव का स्मरण कराता है। अपने मित्र के चित्र को देख कर उस का स्मरण हो आता है। जब कोई कथा हम सुनते हैं अथवा किसी गायन का श्रवण करते हैं तो वह कथा और गीत किसी प्राक समान अनुभव को स्मरण कराते हैं। एक फुटबाल (पाद कन्दुक) को देख कर चन्द्रमा का स्मरण हो जाता है। वर्षा ऋतु में हरिद्वार के नैसर्गिक दृश्य काश्मीर के रमणीक दृश्यों का स्मरण कराते हैं इत्यादि यह सादृश्य का नियम भी सहभाव के नियम का ही रूपान्तर प्रयोग है। क्योंकि चित्र और मित्र की प्रतिमा जब तक एक साथ हमारे सामने न आवें तब तक उन का सादृश्य अनुभवगम्य नहीं हो सकता।

विपरीतता का नियम Law of Contrast

इस नियम का वर्णन इस प्रकार किया जाता है। प्रत्येक संस्कार अपने से विपरीत संस्कार का अथवा विरोधी संस्कार का स्मरण कराता है जैसे पुण्य पाप का, धर्म्म अधर्म्म का, सत्य असत्य का, गर्मी सर्दी का, बड़े छोटे का, धनी निर्धन का, नर्म सख्त का, इत्यादि स्मरण कराते हैं। यह नियम वास्तव में संस्कारों के परस्पर भेद की सूचना देता है परन्तु किन्हीं दो संस्कारों में भेद उन में किसी न किसी अंश की समानता का भी सूचक होता है अतः विपरीतता का नियम अन्ततः सादृश्य के नियम का ही रूपान्तर है। पुण्य पाप यद्यपि भेद के कारण एक दूसरे से विपरीत भाव हैं

तथापि इस अंश में वे अवश्य एक दूसरे के समान हैं कि दोनों ही मनुष्याचरण के निर्देशक हैं। पुण्य का संस्कार जूता के संस्कार को जागृत नहीं करेगा क्यों कि उन में समानता का कोई अंश विद्यमान नहीं है।

मूल नियमों का रूपान्तर परिवर्तन

हम ऊपर दिखा आए हैं कि सादृश्य का नियम सहभाव के नियम का रूपान्तर प्रतीत होता है तथा विपरीतता का नियम सादृश्य के नियम का रूपान्तर नज़र आता है, अतः इन तीनों नियमों में से सहभाव का नियम ही मूल नियम ठहरता है परन्तु कई मनो वैज्ञानिकों ने इन नियमों के इस रूपान्तर परिवर्तन को असङ्गत ठहराया है उन की दृष्टि में सादृश्य तथा सहभाव के नियम यद्यपि अपन कार्य में कुछ मिलते जुलते हैं तथापि उन में से प्रत्येक अपना स्वत्व रखता है अतः उन को एक दूसरे में विलीन करना ठीक नहीं।

गौण नियम

हम यह भी प्रकट कर चुके हैं कि कोई संस्कार अकेला असम्बद्ध रूप में अपनी सत्ता नहीं रखता। विलियम जेम्स ने इस बात को इस प्रकार वर्णन किया है (Every idea has a fringe) अर्थात् प्रत्येक संस्कार के साथ प्रान्त-तन्तु दीखते हैं जो उस का सम्बन्ध अन्य संस्कारों के साथ प्रकट करते रहते हैं। हम यह भी बतला चुके हैं कि साधारण अनुभव भी यही सिद्ध करता है कि हम एक ही समय में कई सहभावी संस्कार ग्रहण करते हैं, एक

घटना का अवलोकन अनेक संस्कारों को देने वाला होता है अतः उस घटना का स्मरण करते समय वे सब संस्कार जागृत होंगे। गत वर्ष के कांग्रेस का अधिवेशन जिन्हों ने देखा था वह उसे इस समय यदि स्मरण करे तो उस समय के समस्त सहभावी संस्कार अब जागृत होने लगेंगे। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कौन संस्कार पहिले जागृत होगा और कौन पीछे? इस बात का निर्णय जिन नियमों द्वारा होता है उन को विचार सम्बन्ध के गौण नियम कहते हैं। निम्न चित्र विचार सम्बन्ध के मूल तथा गौण नियमों को भली प्रकार दर्शाता है। मध्यवर्ती वृत्त वर्तमान संस्कार का बोधक है। अन्य सब वाह्य अक्षर जो इस के साथ लगे हुए हैं इस वर्तमान संस्कार के भूतकालिक सहवर्ती हैं यह सब संस्कार वर्तमान संस्कार के द्वारा जागृत होना चाहते हैं।



इन प्रतिद्वन्द्वी संस्कारों में से प्रत्येक को जागृत होने का अधिकार है परन्तु इन में से "ज" की अपेक्षा जो सहवर्ती नहीं

है कौन प्रथम स्मरण होगा इस बात का निर्णय गौण नियम करेंगे जिन का उल्लेख अब हम करते हैं।

१–अभ्यास (पुनरावृत्ति) का नियम। } जिन संस्कारों का पुनरावर्तन हो चुका हो उन का स्मरण अन्यों की अपेक्षा शीघ्र होगा, चित्र में यदि "क" का वर्तमान संस्कार के साथ सहवर्तन कई बार हो चुका हो तो अन्य सहवर्ती संस्कारों की अपेक्षा "क" का स्मरण वर्तमान संस्कार शीघ्र करायेगा। जो कविताएं हम ने बाल्यावस्था में अनेक बार पढ़ी हैं और दोहराई हैं उन का स्मरण कितनी शीघ्रता पूर्वक हो सकता है इस से हम सब भली प्रकार परिचित हैं।

२–संस्कार दृढ़ता का नियम। } जब कोई घटना दृढ़तर संस्कार हमारे मन पर छोड़ जाती है तो उस का स्मरण भी अन्यों की अपेक्षा शीघ्रता पूर्वक होगा उदाहरणार्थ–जब हम गत कांग्रेस का अधिवेशन स्मरण करते हैं तो कांग्रेस की जिन घटनाओं ने हमें अधिक प्रभावित किया था जैसे प्रधान का जलूस, नेताओं का आगमन इत्यादि इन बातों का स्मरण हमें पहिले होगा और जल्दी होगा। लेखक को एक बार व्यायामशाला में घोड़े पर से गिरने से खूब चोट आई थी। अब जब कभी वह किसी को घोड़े पर व्यायाम करते हुए देखता है तो उसे तुरन्त अपनी चोट का स्मरण आजाता है।

३-भावात्मक दशा का नियम। } स्मृति ज्ञान में हमारी तत्कालीन भावात्मक दशा (Emotional Condition) भी विचार शृंखला को प्रभावित करती है, उदासी में हमें निराशा पूर्ण घटनाओं का स्मरण होता है, परन्तु जब हम आनन्दित अथवा प्रफुल्लित वदन प्रसन्न होते हैं तो हमें आशा जनक तथा सुखात्मक घटनाओं का स्मरण होता है।

४-ऐच्छिक ध्यान का नियम। } स्मृति ज्ञान में हमारा ऐच्छिक ध्यान भी बहुत कुछ विचार शृङ्खला का निर्णय करता है। गत कांग्रेस के अधिवेशन इस समय स्मरण करते हुए यदि हम तत्सम्बन्धी कुछ विशेष घटनाओं के स्मरण करने की इच्छा रखते हों तो हमारा ध्यान उन्हीं की ओर हमें प्रवृत्त करेगा और अन्य संस्कारों को जागृत न होने देगा। खोई हुई पुस्तक को ढूंडते समय भी हमारा ध्यान तथा इच्छा ही विचार प्रवाह का कारण बनते हैं।

५-नूतनता का नियम-जिन संस्कारों को प्राप्त किये अभी थोड़ा ही समय हुआ है उनका स्मरण अन्यों की अपेक्षा शीघ्र होता है, इसका कारण स्यात् यह हो कि प्राचीन संस्कार धीरे २ मन्द पड़ जाते हैं परन्तु इस नियम के इतने अपवाद हो सकते हैं कि इसे नियम कहना ही ठीक नहीं नज़र आता। अतः इसके साथ यह कह देना ठीक होगा कि अन्य सब अवस्थाएं समान होने पर नूतन संस्कार जागृत होगा।

९–क्रम बद्ध विचार का नियम।

जिन संस्कारों को हम ने अपनी आवश्यकतानुसार किसी विशेष क्रम में बान्ध लिया है तो उनका स्मरण भी शीघ्रता पूर्वक हो सकता है। जैसे व्याख्यान तैय्यार करते समय एक वक्ता अपने मूल विचार के साथ अन्य सब विचारों को इस प्रकार संगठित कर देता है कि मानो वे एक सूत्र में परोये गये हैं, व्याख्यान देते समय वे सब विचार मूलविचार के सन्मुख होने पर अपने आप विकसित होते चले आते हैं और वक्ता को उनके स्मरण करने में कोई आयास नहीं करना पड़ता।

निद्रा में विचार सम्बन्ध के नियमों का व्यापार

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि स्वप्नावस्था में जो संस्कारों की जागृति होती है उस में भी इन नियमों का व्यापार रहता है वा नहीं? उत्तर में यह कहा जा सकता है कि अपने स्वप्नों को यदि जागृत होने पर हम स्मरण करें तो उनमें भी किसी अंश तक तो अवश्य इन नियमों का प्रयोग नज़र आता है परन्तु यतः निद्रावस्था में ऐच्छिक ध्यान की शक्ति मन्द पड़ जाती है तथा चेतना अधिकांश प्रसुप्त दशा में चली जाती है अतः स्वप्नों में घटनाओं के गमनागमन में कोई निश्चित नियम अथवा क्रम नहीं दीखता।

विचार सम्बन्ध का क्रियात्मक प्रयोग

साधारणतया विचार सम्बन्ध का प्रयोग विश्वव्यापी है। समाज के प्रत्येक विभाग में इसके उदाहरण मिलते हैं। कई एक प्रश्नों द्वारा इसकी व्यापकता को दर्शाया जा सकता है। फैशन कैसे प्रचलित होता है? गुरुकुलों में सब लोक सिर से नङ्गे क्यों रहते हैं? हमारे शिक्षित वर्ग ने अपने देश के तङ्ग पाजामे को छोड़ कर पतलून का पहिरना शुरू किया था परन्तु अब वे पुनः तङ्ग पाजामे का सेवन करते नज़र आते हैं यह क्यों? तुम अराजकता वादी कहलाने की अपेक्षा साम्यवादी कहलाना अधिक पसन्द करते हो, यह क्यों? नर्म दल वाले नीतिज्ञ आज कल अपने आप को उदार दल के नाम से पुकारने लग गये हैं, यह क्यों?

स्मृतिज्ञान के दो स्वरूपों का भेद किया जा सकता है जब किसी उद्बोधक के सामने आने पर संस्कार स्वयमेव उद्बुद्ध होते चले जाते हैं और विषय का अनुसरण शीघ्रता पूर्वक होने लगता है तो स्मृति ज्ञान के उस स्वरूप को सहज स्मृति अथवा स्वरसिक स्मृति कहते हैं परन्तु जब संस्कारों के उद्बुद्ध करने में हमें आन्तरिक प्रयत्न करना पड़ता है तो उस स्वरूप को साचिन्त स्मृति अथवा प्रधान स्मृति कहते हैं। प्रधान स्मृति में विस्मृत पदार्थ को हम अपनी प्रबुद्ध चेतना में ढूंढते हैं परन्तु वहां उस

को न पाकर प्रसुप्त चेतना का द्वार खटखटाते हैं। उस समय जो हमारी मानसिक दशा होती है उस का वर्णन बड़ा मनोरञ्जक होगा।

विस्मृत पदार्थ का स्मरण

विस्मृत पदार्थ हमारे मानसिक जीवन में एक ऐसे अन्तर का सूचक बनता है जिस का भरना हमारे लिये अत्यभीष्ट हो जाता है। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिये हम विस्मृत पदार्थ की खोज प्रारम्भ करते हैं। जहां उस के मिलने की हमें आशा हो तथा जिन जिन अन्य पदार्थों के साथ उस का मिलना सम्भव हो उन सब का भी स्मरण हम करते हैं। ज्यों ज्यों हमें विस्मृत पदार्थ के निकटवर्ती सहचारियों का ध्यान आने लगता है त्यों त्यों हमें उस पदार्थ की निकटता का भी अवबोध होना प्रारम्भ हो जाता है, अन्ततः उस के सब सहचारियों के लगातार टटोलने से किसी ऐसे सहचारी का हमें सामना हो जाता है जो तुरन्त ही विस्मृत पदार्थ का हमें स्मरण करा देता है और वह पदार्थ सुस्पष्टतया अपने पूरे परिचय से हमारी मानसिक व्यथा को दूर करके हमें शान्त कर देता है।

स्मृति के प्रकार

स्मृति के कई दृष्टियों से भेद किये गये हैं। जो लोक स्मृति के शारीरिक आधार पर बलदेते हैं उन्हें स्मृति के प्रकारों का निश्चय मस्तिष्क की संस्कार

ग्रहण करने की शक्ति द्वारा करना पड़ता है। यह शक्ति भिन्न २ मनुष्यों में भिन्न भिन्न राशि में मिलती है। मस्तिष्क की इस स्वाभाविक शक्ति को विलियम जेम्स के मतानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता। हां विशेष विधियों के अवलम्बन करने से स्मरण शक्ति को सुधार सकते हैं। मस्तिष्क की स्वाभाविक शक्ति की दृष्टि से स्मृति के चार भेद किये गये हैं।

१–" वेगवेगी " जब किसी मनुष्य को विषय का शीघ्र स्मरण हो जावे और उस के पश्चात् शीघ्र ही विस्मरण हो जावे तो ऐसी स्मृति को वेगवेगी कहते हैं। यह स्मृति परीक्षा के काम में प्रयुक्त होती है। वकालत पेशा के लोकों में इसी स्मृति का आधिक्य मिलता है। वे लोक शीघ्रता पूर्वक अपनी आसामी (Client) का अभियोग तैय्यार कर लेते हैं और न्यायालय से बाहिर निकल कर शीघ्र ही उसे भुला देते हैं।

२–"वेगचिरी" जब विषय का स्मरण शीघ्रतापूर्वक हो जावे और संस्कारों की स्थिति चिरकाल तक बनी रहे अर्थात् विषय का विस्मरण शीघ्र न हो सके तो उसे वेगचिरी स्मृति कहते हैं। इस स्मृति को मेधाशक्ति भी कहा जाता है। स्मृति का यह प्रकार सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

३–"चिरचिरी" जब चिरकाल में विषय का स्मरण हो और चिरकाल तक ही उस के संस्कारों की स्थिति मस्तिष्क में बनी रहे तो उसे चिरचिरी स्मृति कहते हैं।

४-"चिरवेगी" जब चिरकाल में विषय का स्मरण हो अर्थात् मस्तिष्क उस के संस्कारों को बहुत देर में ग्रहण करे परन्तु वे संस्कार शीघ्र ही मिट जाएं तो उस स्मृति को चिरवेगी कहा जाएगा। यह सब से अधम प्रकार है।

इन्द्रिय प्रयोग की दृष्टि से भी स्मृति के भेद किये गये हैं। कई लोकों को सुनी हुई बातों का स्मरण अन्य प्रकार के अनुभवों की अपेक्षा शीघ्र होता है। ऐसे लोकों की स्मृति "शब्द-स्मृति कहलाती है। इस स्मृति वाले लोकों को व्यक्तियों के चेहरों की अपेक्षा उन के नाम अधिक जल्दी स्मरण होते हैं। इसी प्रकार कई मनुष्यों को देखी हुई चीजों का स्मरण शीघ्र होता है। उनकी स्मृति "चाक्षुष स्मृति" कहलाती है। यह लोक व्यक्तियों के नामों की अपेक्षा उन के चेहरों को शीघ्र स्मरण कर लेते हैं।

इस उपरोक्त दो प्रकार के स्मृति को भेद का यदि परीक्षण करना हो तो अपने दो चार मित्रों को किसी विशेष घटना का लिखित वर्णन करने के लिये कहो तो तुम्हें मालूम हो जावेगा कि शब्द स्मृति वाले उस घटना के सम्बन्ध में अधिकांश उन बातों का उल्लेख करेंगे जो उन के कर्णगोचर हुई थीं तथा चाक्षुष स्मृति वाले उस घटना के सम्बन्ध में अधिकांश उन बातों का उल्लेख करेंगे जो उन्हें दृष्टिगोचर हुई थीं। अध्यापक लोक इस प्रकार के स्मृति भेदों को अपने शिष्यों में भली प्रकार देख सकते

हैं। स्मृति के भेदों को अन्य दृष्टि से अवलोकन करने पर उसके निम्न प्रकार भी हो सकते हैं—

१–"तात्कालिक स्मृति" यह स्मृति आवश्यकता पर काम आती है। कई व्यक्ति इस स्मृति की न्यूनता के कारण अपनी योग्यता का तुरन्त परिचय नहीं दे सकते। जिन में इस स्मृति का आधिक्य होता है वे थोड़ी योग्यता रखते हुए भी समय पड़ने पर उस का बड़ा उपयोग उठाते हैं।

२–"विस्तीर्ण स्मृति" इस के अनुसार एक व्यक्ति अनुभूत विषय के सम्बन्ध में छोटी मोटी सब बातों का स्मरण कर लेता है। इस स्मृति के रखने वाला मनुष्य आवश्यक तथा अनावश्यक संस्कारों में कोई भेद नहीं कर सकता। अगर उसे किसी अनुभूत घटना के वर्णन करने को कहो तो वह तत्सम्बन्धी सब बारीकियों को बतलाना आरम्भ कर देता है और सुनने वाले का जी उकता जाता है। सुनने वाला उसे बारम्बार यह कहता है "भाई! असली बात पर आओ" यह स्मृति प्रायः वृद्धा स्त्रियों में देखी जाती है जो सायंकाल घर के चूल्हे के पास बैठ बच्चों को गाथाएं सुनाती हैं।

३–"दार्शनिक स्मृति" यह स्मृति विस्तीर्ण स्मृति की ठीक प्रतिकूल (ऐन उलटी) है। इस में घटना की बारीकियों के स्थान में उस के मुख्य अंशों का ही स्मरण रहता है और उन

मुख्य अंशों को स्मरण करके मनुष्य स्वयं गौण बातों का प्रसार कर लेता है। बड़े २ विचारकों में साधारणतया इसी स्मृति का परिचय मिलता है।

अच्छी स्मृति के लिये विशेषतया तीन बातों की आवश्यकता होती है। १-संस्कारों का दृढ़तर होना। २-संस्कारों का शीघ्र जागृत हो सकना। ३-चिरकाल तक संस्कारों का न मिटना। संस्कारों को दृढ़तर बनाने का साधन अभ्यास तथा ध्यान है। वर्तमान काल में लोकों की स्मृति का ह्रास होता चला जाता है। उस का मुख्य कारण यह है कि वर्तमान काल में लोक स्मरण शक्ति का आश्रय कम लेते हैं। प्राचीन काल में छापेखानों के अभाव से लोक सिवाय हस्त लिखित पुस्तकों के अन्य किसी प्रकार की पुस्तकों का अवलोकन नहीं करते थे अतः स्मरण शक्ति का सहारा उन्हें अधिक लेना पड़ता था। अब भी प्राचीन रीत्यनुसार पढ़ने वाले पण्डितों को प्रायः अपना सब कुछ पढ़ा हुआ उपस्थित रहता है। काशी के बहुत से पण्डितों को अनेक ग्रन्थ कण्ठस्थ होते हैं। कहते हैं कि श्री स्वामी दयानन्द जी को सैकड़ों पुस्तकें कण्ठस्थ थीं। आज कल छापे के कारण पुस्तकें सस्ती और अत्यधिक संख्या में मिल जाती हैं, इस लिये लोक प्रायः उन को मस्तिष्क में सुरक्षित रखने के स्थान में उन्हें अपने निज के पुस्तकालयों में स्थान देते हैं। परन्तु उत्तम तो यही

प्रतीत होता है कि हमारा लिखा पढ़ा हमें आवश्यकता पड़ने पर पुस्तकों में न ढूंढना पड़े। उसका जब चाहें प्रयोग कर सकें।

दिव्य स्मृति

यह भी एक प्रकार की स्मृति मानी गई है। यह उच्चकोटि के मनुष्यों में पाई जाती है जिन्हें दिव्य शक्तियां प्राप्त हो चुकी हों। इस स्मृति के द्वारा मनुष्य अपने भूतकाल के जीवन व्यवहार को सर्वांश में अवलोकन कर सकता है। उसे अपना भूत ऐसा दृष्टिगोचर होने लग जाता है कि जैसे उस को वर्तमान काल का प्रत्यक्ष होता है। इस दिव्य स्मृति के हमें कभी २ उदाहरण मिलते हैं। डूबते हुए मनुष्यों में जिन्हें मरते २ बचा लिया गया था, कई बार ऐसा बतलाया है कि उन्हें डूबते समय अपने भूतकाल के जीवन का सारा चित्र भासने लग गया था।

प्रश्न

विस्मृति से हमारा क्या तात्पर्य्य है? क्या यह हमारे लिये उपयोगी होगा यदि हम अपने भूत की प्रत्येक क्षुद्र से क्षुद्र घटना को सर्वदा याद रख सकें? विस्मृति का हमारे जीवन में क्या उपयोग होता है? क्या उचित विस्मृति अच्छी स्मृति के लिये आवश्यक नहीं है? ॥

स्मरण शक्ति को उन्नत करने के साधन

स्मृति किसे कहते हैं? वह किन नियमों के आधीन कार्य करती है, उस के कितने प्रकार हैं? इत्यादि प्रश्नों की

आलोचना हो चुकी है अब हम इस विषय पर थोड़ा सा विचार करना चाहते हैं कि स्मरण शक्ति को उन्नत करने के क्या उपाय हो सकते हैं? कई मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि यतः मस्तिष्क की संस्कारों के ग्रहण करने की शक्ति परिमित है अतः प्रत्येक मनुष्य की स्मरण शक्ति भी उस के मस्तिष्क की शक्ति के अनुसार परिमित होती है। उस शक्ति को बढ़ाना असम्भव होता है परन्तु कतिपय कृत्रिम उपायों का अवलम्बन कर के उस दत्त शक्ति का भली प्रकार प्रकाश किया जा सकता है। वे कृत्रिम उपाय यह हैं।

१-मस्तिष्क जो स्मरण शक्ति का शारीरिक आधार है उसे जितना तरोताज़ा रखा जावेगा तथा श्रान्ति से बचाया जावेगा उतना ही वह शीघ्रता पूर्वक संस्कारों को ग्रहण करेगा। दिमाग़ को तरोताज़ा रखने के लिये यह आवश्यक है कि पूरी निद्रा की जावे। खुली वायु में निवास किया जावे। तथा व्यायाम आदि सात्विक भोजन का ग्रहण किया जावे। शोक, भय, क्रोध, चिन्ता इत्यादि वृत्तियों को हृदय से सर्वथा पृथक् रखा जावे।

२-ध्यान शक्ति का विषय-स्मरण के लिये पूरा प्रयोग होना चाहिये। जिस विषय को हम स्मृतिनिष्ठ करना चाहते हैं उस का ध्यान पूर्वक निरीक्षण उस के संस्कारों को दृढ़तर बना लेता है और वह विषय हमें देर तक याद रहता है।

३-ध्यान शक्ति के साथ साथ विचार शक्ति भी विषय-स्मृति के लिये अत्यावश्यक है। विचार शक्ति से हमारा प्रयोजन यह है कि जिन बातों को हम देर तक स्मरण रखना चाहते हैं उन के अन्तर्गत विचार के सम्बन्धों की ओर ध्यान देवें और उन्हीं स्वाभाविक सम्बन्धों में उन बातों को संगठित करें। विचार पूर्वक विषय का अध्ययन इसी को कहते हैं। पाठ स्मरण करते समय जो विद्यार्थी केवल शाब्दिक पुनरावृत्ति पर (जिस को साधारण भाषा में रटना कहते हैं) ज़ोर देते हैं, वे वास्तविक अर्थों में विद्या की प्राप्ति नहीं कर सकते। 'रटने' में भाषा के शाब्दिक अनुक्रम के पीछे विचार अनुक्रम को ध्यान में नहीं रखा जाता। तोते की न्याईं केवल शब्दों की ही पुनरावृति होती रहती है। यह रटना यद्यपि साधारण परीक्षाओं में कुछ काम दे जाता है तथापि विद्या प्राप्ति में अत्यन्त बाधक ठहरता है। क्योंकि रटा हुआ पाठ हमारे पूर्व प्राप्त ज्ञान का भाग नहीं बनता। ज्ञान का भाग वही अनुभव बन सकता है जिस को हमने विचार सम्बन्धों में बान्ध लिया हो। जो संस्कार पूर्व सञ्चित संस्कारों के साथ सम्बद्ध नहीं हो सकते उन का शीघ्र ही लोप हो जाता है। इसी लिये रटने वाले विद्यार्थियों को परीक्षा भवन से लौट आने पर कुछ भी याद नहीं रहता। यहां पर हम यह भी कह देना उचित समझते हैं कि परीक्षक

महाशयों को भी इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि विद्यार्थियों में विद्या का सच्चा अनुराग वे तभी पैदा कर सकते हैं कि जब वह परीक्षा पत्र इस ढंग के बनावें जिन से विद्यार्थियों में रटने की अभि रुचि पैदा ही न हो।

४–ऊंचा पढ़ना भी लोकों को विषय-स्मरण में सहायक होता है क्योंकि इस से संस्कार दृढ़तर बैठते हैं परन्तु यह कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं क्योंकि कई मनुष्यों को दिल में पढ़ने से विषय का स्मरण शीघ्र होता है। असली कारण तो ध्यान का लगाना है। कई लोक ऊंचा बोल कर ध्यान एकाग्र करते हैं और कई लोक दिल में पढ़ कर। अपने २ अभ्यास की बात है।

५–पुनरावृत्ति या अभ्यास भी स्मरण शक्ति को बढ़ाने का एक अच्छा उपाय है। पुस्तकों का सार लिखना और उन पर पुनः २ विचार करना तथा स्मरणीय विषय का दूसरों को सुनाना, यह बातें भी स्मृति के लिये सहायक होती हैं।

६–जिस विषय का हम अध्ययन कर रहे हों उसे देर तक स्मरण रखने का अन्तिम उपाय यह है कि हम यह मालूम करें कि उस विषय के अन्तर्गत मूल विचार क्या हैं। अन्य गौण विचारों को तत्पश्चात् उन मूल विचारों के साथ एक क्रम या शृङ्खला में बान्ध देना चाहिये। यह क्रम या शृङ्खला विषय-स्मृति में बड़ी सहायक होती है।

स्मृति भ्रंश

स्मृति भ्रंश का विषय मनोविज्ञान की उन समस्याओं में से है जिनके सम्बन्ध में अभी विचारकों की गवेषणा किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंची। स्मृति भ्रंश का तात्पर्य स्मृति का लोप होता है। यह लोप दो प्रकार का हो सकता है, सम्पूर्ण भ्रंश और आंशिक भ्रंश। सम्पूर्ण भ्रंश पुनः अल्पकालिक, नियत कालिक (नियत समय पर होने वाला) क्रमशः बढ़ने वाला तथा पैदाइशी (सहजात) होता है, इस का प्रारम्भ प्रायः आकस्मिक होता है और इस का अन्त भी आकस्मिक ही हो जाता है। इस का स्थिति-काल कुछ मिन्टों से लेकर कई वर्षों तक हो सकता है। यह स्मृति भ्रंश साधारणतया मिरगी (अपस्मार) के रोगियों में पाया जाता है। वे इस रोग से ग्रस्त हो कर कुछ समय तक जो कुछ क्रियाएं करते हैं रोग के आक्रमण के गुज़र जाने पर उन्हें एक बारगी भूल जाते हैं। अल्पकालिक स्मृति भ्रंश प्रायः मस्तिष्क पर अत्यन्त परिश्रम पड़ने से उत्पन्न होता है या उसे किसी प्रकार के आघात पहुंचने पर। इस में आघात पहुंचने से पूर्व की बातें कुछ समय तक सर्वथा विस्मृत हो जाती हैं।

नियत कालिक स्मृति भ्रंश अधिक मनोरञ्जक घटना उत्पन्न करता है। इस में एक व्यक्ति अपने सारे भूतकाल की घटनाओं को एक बारगी भूल जाता है तथा एक नये व्यक्तित्व को प्राप्त कर के अपने आप को पहिले व्यक्ति से एक भिन्न

व्यक्ति स्वीकार करने लग जाता है, इस नये व्यक्ति का अपना भूतकालिक जीवन होता है जिस को वह स्मरण करता है और जिस के साथ वह वर्तमान का सम्बन्ध जोड़ता है परन्तु कुछ समय व्यतीत होने पर यह नवीन व्यक्ति अपनी नवजात व्यक्तित्व को खो बैठता है और पुनः पूर्व का व्यक्तित्व अपने भूतकालिक जीवन की स्मृति के सहित आ उपस्थित होता है।

क्रमशः बढ़ने वाला स्मृति भ्रंश वृद्धावस्था में पाया जाता है। वृद्धावस्था में यतः संस्कार दृढ़ता पूर्वक मस्तिष्क में नहीं बैठते अतः उन का शीघ्र लोप हो जाता है और स्मृति लोप का कारण बनता है। सहजात स्मृति भ्रंश प्रायः पागलों तथा कृपणबुद्धि वालों में पाया जाता है।

आंशिक स्मृति भ्रंश की शरीर विद्या के पण्डितों ने अच्छी व्याख्या की है। इस से वे स्मृति के एक भाग के लोप का तात्पर्य लेते हैं। मस्तिष्क में वे विचार के भिन्न २ केन्द्र स्वीकार करते हैं। उन केन्द्रों में से किसी को आघात पहुंचने पर उस का निश्चित कार्य बन्द हो जाता है तथा उस केन्द्र सम्बन्धी स्मृति का भी लोप हो जाता है। उदाहरणार्थ-यदि चक्षु के केन्द्र को हानि पहुंच जाए तो देखी हुई बातों का विस्मरण हो जाएगा, परन्तु पुनः उस केन्द्र के स्वस्थ हो जाने पर देखी हुई चीज़ों की स्मृति लौट आती है। इसी प्रकार अन्य केन्द्रों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है॥

बारहवां अध्याय

कल्पना

स्मृति और कल्पना में भेद

स्मृति का पूर्वानुभव के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। स्मरण क्रिया वस्तुतः पूर्वानुभव के यथावत् पुनरुत्पादन का ही नाम है। उस में अनुभूत विषय के देश तथा काल का सम्बन्ध दृष्टिगोचर रहता है, स्मृति ज्ञान में जब हम एक पग आगे उठाते हैं तब हम कल्पना के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। कल्पना शक्ति भी स्मृति की तरह अपनी सामग्री पूर्वानुभव से ग्रहण करता है परन्तु उन में भेद यह है कि स्मृति जहां केवल भूतकाल के साथ बन्धी रहती है वहां कल्पना शक्ति को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहती है। उस का भ्रमण भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों कालों में रहता है। साथ ही स्मृति ज्ञान में जहां हम विचार सम्बन्ध के नियमों का प्रयोग पाते हैं वहां कल्पना शक्ति में प्रथमतः विश्लेषण क्रिया का प्रयोग होता है, भूत कालिक अनुभव को उस के मूल अंशों में तोड़ कर पुनः उन अंशों को अन्य अनुभवों के साथ जोड़ कर कल्पना शक्ति अपना कार्य करती है।

कल्पना शक्ति का मुख्य कार्य

अतः कल्पना शक्ति का मुख्य कार्य भूतकालिक अनुभवों को नये २ रूपों तथा विचित्र आकृतियों में प्रकट करना ही है। जब मैं सोने के पहाड़ की कल्पना करता हूं तो अनुभूत सोने का पीलापन पृथक् कर के अनुभूत पर्वत के विचार के साथ जोड़ देता हूं। जब एक अध्यापक अपने विद्यार्थियों को महाराणा प्रताप के सम्बन्ध में पाठ पढ़ाता है तो उस समय विद्यार्थियों की कल्पना शक्ति कैसे काम करती है? अध्यापक पहिले विद्यार्थियों को एक बड़े पुष्ट, बलवान, शूरबीर व्यक्ति का चित्र दिखाता है, फिर उन्हें कहता है कि अब कल्पना करो कि यह व्यक्ति घोड़े पर सवार है उस के हाथ में एक लम्बा सा नेज़ा है, मूछें खूब तनी हैं, सिर पर लोहे का खोद है। विद्यार्थी अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा इन सब भावों को उस व्यक्ति के साथ जोड़ देता है। अब विद्यार्थी की मानसिक चक्षु के सामने एक सर्वाङ्ग पूर्ण घुड़ सवार का चित्र आने लग जाता है। पुनः अध्यापक उन विद्यार्थियों को कहता है कि अब कल्पना करो कि यह घुड़सवार घोड़ा दौड़ाए चला जा रहा है और उस के आगे मुग़लों की सेना तित्तर बित्तर हो रही है। इस प्रकार वह उन के सामने एक विशेष युद्ध का चित्र खिचवा देता है जिस को विद्यार्थी लोक बड़े हर्ष पूर्वक श्रवण करते हैं। इतिहास शास्त्र तथा

भूगोल विद्या का सारा अध्ययन इसी कल्पना शक्ति की सहायता से ही होता है। यह विषय जहां कल्पना शक्ति की सहायता से पढ़ाए जाते हैं वहां क्रमशः इन के द्वारा इस शक्ति की वृद्धि भी होती चली जाती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में कल्पना का समावेश

जब हम किसी विषय का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर रहे होते हैं तो वहां पर भी न्यूनाधिक इस कल्पना शक्ति का प्रयोग मिलता है। दूर से आते हुए एक व्यक्ति का अपने मित्र के साथ थोड़ा सा सादृश्य देख कर उस व्यक्ति के सम्बन्ध में अपने मित्र की अन्य सब विशेषताएं कल्पना द्वारा जोड़ लेते हैं। इसी प्रकार स्मृति ज्ञान में भी कल्पना शक्ति अपना कार्य करती रहती है। लेखक ने जब प्रथम वार काश्मीर यात्रा की थी तो वहां के रमणीय दृश्यों को देख कर बड़ा तृप्त हुआ था। लौट आने पर उन का अनेक बार स्मरण करता रहा, उस की कल्पना शक्ति भी उन के सम्बन्ध में अपना कार्य करती रही उस का फल यह हुआ कि द्वितीय वार काश्मीर यात्रा में वही दृश्य अत्यधिक मनोरञ्जक स्वरूप में उसके सामने प्रकट हुए। स्मृति-ज्ञान में कल्पना का प्रयोग अन्य प्रकार से भी दर्शाया जा सकता है जब हम देखी हुई अथवा सुनी हुई किसी घटना का अन्य व्यक्तियों के सन्मुख वर्णन करते हैं तो उस का न्यूनाधिक रूप बदल जाता है। यह कल्पना शक्ति के स्पर्श का ही परिणाम होता है। यदि उसी घटना को पुनः देखा अथवा सुना

जावे तो कल्पना-शक्ति ने अपना कितना भाग उस के ज्ञान में सम्मिलित किया है इस का स्पष्ट बोध हो जावेगा।

कल्पना शक्ति के प्रकार

कल्पना शक्ति तीन प्रकार की होती है। १—रचनात्मक (निर्माणात्मक) कल्पना, २—उत्पादक कल्पना, ३—सरस कल्पना (सौन्दर्य्य विवेकी)।

रचनात्मक कल्पना

राणा प्रताप के सम्बन्ध में अध्यापक पाठ पढ़ाते समय जिस कल्पना का विद्यार्थियों से प्रयोग कराता है वह रचनात्मक कल्पना है। हम अपनी शिक्षा के द्वारा जितना ज्ञान प्राप्त करते हैं वह अधिकांश इसी कल्पना शक्ति की सहायता से प्राप्त होता है। इसे रचनात्मक इस लिये कहते हैं कि यह ज्ञान के अंशों को मिला मिला कर अन्य २ अनुभवों की रचना करती है जो अनुभव कि हमारे अभी तक प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन चुके होते। भूगोलविद्या के अध्ययन में इसी शक्ति का प्रयोग होता है। वैज्ञानिक आविष्कार भी इसी रचनात्मक कल्पना के फल होते हैं। एक विज्ञानवेत्ता पहिले घटनाओं का निरीक्षण करता है पुनः उन के परिणामों के सम्बन्ध में एक स्थापना का निर्माण करता है। वे परिणाम अभी तक उस के दृष्टिगोचर नहीं हुए, उन का विचार वह कल्पना शक्ति द्वारा ही करता है। एक नदी के ऊपर किस प्रकार का सेतु बनाया जावे इस पर विचार करते समय एक इञ्जनीयर रचनात्मक

कल्पना का ही प्रयोग करता है। वह अपनी कल्पना में अनेक प्रकार के सेतुओं की रचना करता है और यह निश्चय करना चाहता है कि किस प्रकार का सेतु उस विशेष नदी के लिये अनुकूल पड़ेगा। ज्योतिष विद्या, रसायन शास्त्र, भौतिक विज्ञान, शरीर विद्या इत्यादि शास्त्रों के क्षेत्र में ऐसी खोजनाओं के अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं जो इसी कल्पना के प्रयोग का फल हैं।

उत्पादक कल्पना

उत्पादक कल्पना में यह विशेषता रहती है कि उस के परिणामों में कुछ नवीनता का अंश अवश्य पाया जाता है। निस्सन्देह इस में भी भूत-कालिक अनुभव ही कार्य करता है परन्तु परिणाम में कुछ अनूठापन दिखाई देता है। साधारणतया सभ्यता ने मनुष्य के सुभीते के लिये जो साधन उपस्थित किये हैं वे सब उत्पादक कल्पना के प्रयोग द्वारा ही उपलब्ध हुए हैं। बाईसिकल से भाप का इञ्जन, और भाप के इञ्जन से बिजली के इञ्जन की रचना में जो क्रामिक नूतन परिवर्तन दीखते हैं वे सब उत्पादक कल्पना के फल हैं। दार्शनिकों और कवियों की कल्पना उत्पादक शक्ति का अधिक परिचय देती है। यह शक्ति बच्चों में भी अपने तीव्र रूप में प्रकट होती है। वह बच्चा जो लकड़ी को घोड़ा समझ कर उस पर चढ़ कर आनन्द लेता फिरता है उसे यदि

वास्तविक घोड़े पर चढ़ा दिया जावे तो वह इतना प्रसन्न न होगा। शुष्क लकड़ी को उस की कल्पना शक्ति ने घोड़े का स्वरूप दे दिया है और घोड़ा भी ऐसा जिस को वह अपने वश में रख सकता है और जिस पर वह अपना स्वामित्व भली प्रकार जमा सकता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी बाल्यवस्था के कई ऐसे उदाहरण उपस्थित कर सकता है जब कि वह अपनी कल्पना शक्ति द्वारा लकड़ी और पत्थर की मूर्तियों में जीवन संचार कर के आनन्द लेता था। बच्चे के जीवन का बहुत सा भाग कल्पना के संसार में ही व्यतीत होता है। वह अपने चारों ओर के पदार्थों को कल्पना की आंखों से ही देखता है। उस को ऐसी गाथाओं के श्रवण में आनन्द आता है जो उस की कल्पना को उत्तेजित करती हैं। उस को खेलते देखिये, घड़ी में राजा, घड़ी में रङ्क बन कर दिखाता है। कल्पना शक्ति की सहायता से अपने आप को भिन्न २ अवस्थाओं में पड़ा हुआ चिन्तन कर के अपने समय को मनोरञ्जकता पूर्ण काटता है।

कल्पना शक्ति का नियन्त्रण

बच्चों की कल्पना शक्ति को उत्तेजित करना तथा उन्नत करना जहां हमारा कर्तव्य है वहां उसका नियन्त्रण भी परमावश्यक प्रतीत होता है। यदि कल्पना की नियन्त्रणा की ओर ध्यान न दिया जावे तो अशिक्षित तथा अनियामित कल्पना से जो भयानक परिणाम

उत्पन्न होते हैं उनसे बच्चों का बचाना असम्भव हो जाएगा। वे बालक जो अपना समय गन्दे उपन्यासों के पढ़ने में लगाते हैं तथा अपनी कल्पना में बारम्बार अश्लील चित्र लाते हैं और उनके चिन्तन में आनन्द मनाते हैं वे अपनी मानसिक शक्तियों को बहुत शीघ्र दुर्बल कर देते हैं और अपने चरित्र को शिथिल बना लेते हैं। अध्यापकवर्ग को चाहिये कि इन दुष्परिणामों से बालकों को दूर रखें। यह तभी हो सकता है जब वे बच्चों की कल्पना शक्ति को शुद्ध विचारों तथा उत्तम विषयों की आलोचना में लगाये रखें। कल्पना शक्ति को दबाने की आवश्यकता नहीं। अपितु उसको सीधे रास्ते पर ले जाने की आवश्यकता है। बच्चों की कल्पना शक्ति के शिक्षण में एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिये और वह यह है कि बच्चे वास्तविक और अवास्तविक बातों का भेद करना सीखें तथा मर्यादा के अतिक्रमण करने का साहस न कर सकें। कल्पना हमारे जीवन में बहुत काम आती है। उन्नति पथ पर चलना हमारे लिये सुगम बना देती है। कठिनाइयों के सामना करने का साहस देती है। कल्पना रहित मनुष्य का जीवन शुष्क तथा नीरस बन जाता है। कल्पना की सहायता के बिना मनुष्य परोपकार में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। जो अपने आप को दूसरों की अवस्था में पड़ा हुआ कल्पना नहीं कर सकता वह दूसरों के दुःखों का यथार्थ अनुभव भी नहीं कर सकता।

और जब तक यह अनुभव नहीं होता तब तक परोपकार वृत्ति जागृत नहीं होती।

सरस कल्पना

जिस कल्पना में हमारे भावों (feelings) का अधिक समावेश रहता है उसको सरस कल्पना कहते हैं। यूं तो हर प्रकार की कल्पना में कुछ न कुछ भावों का सम्पर्क होता ही रहता है परन्तु सरस कल्पना में विशेषतया भावों की प्रधानता देखी जाती है। सौन्दर्य का अनुभव जहां २ से होता है इसी कल्पना के द्वारा ही होता है। चित्र का सौन्दर्य, कविता का सौन्दर्य, दृश्य और शिल्प का सौन्दर्य तथा साहित्य आदि का सौन्दर्य इसी सरस कल्पना द्वारा ही अनुभवगम्य होता है। भिन्न २ जातियों का शृङ्गार भेद इसी कल्पना के नाना विधि विकास का परिणाम होता है।

सरस कल्पना और लक्ष्य-निर्माण

सरस कल्पना का मुख्य उपयोग मनुष्य अपने जीवन में लक्ष्य के निर्माण करने में प्राप्त करता है। इस दृष्टि से सरस कल्पना का महत्व और भी बढ़ जाता है। लक्ष्य का प्रभाव जीवन व्यवहार पर पड़ता है क्योंकि मनुष्य का जीवन अधिकांश अपने लक्ष्य के रङ्ग से रङ्गा रहता है। इस लिये यह अत्यावश्यक है कि हम लोग अपने लक्ष्यों की सुरचना की ओर पूरा ध्यान देवें। हमें अपने लक्ष्य शुद्ध, पवित्र तथा सर्वोत्कृष्ट बनाने चाहियें।

बच्चों को ऐसी परिस्थिति में रखना चाहिये जहां उन्हें उच्च आदर्श रखने वाले व्यक्तियों का सहवास होता रहे। कवि, चित्रकार, गायक, उपन्यास लेखक यह लोग इस कल्पना से अधिक कार्य लेते हैं। उन की रचनाओं का गुण विवेचन अन्य व्यक्तियों के लिये तभी सम्भव हो सकता है कि जब वे अपने अन्दर इस सरस कल्पना शक्ति को किसी सीमा तक उन्नत कर लेवें।

कल्पना शक्ति और व्यक्तिगत उन्नति

यह हम बतला चुके हैं कि लक्ष्य रचना में कल्पना काम आती है। मनुष्य की उन्नति में कल्पना शक्ति कितना भाग लेती है इस को समझना भी आवश्यक है। जैसी भी परिस्थिति क्यों न हो हम उस में रह कर कोई न कोई लक्ष्य अपने सामने बनाए ही रखते हैं। यदि वह लक्ष्य अच्छा न होगा तो वह बुरा ही होगा, उत्कृष्ट न होगा तो निकृष्ट ही होगा। अपने जीवन व्यवहार में हम यदि लक्ष्य के महत्व को समझ लेवें तो जीवनोन्नति सहज हो जावेगी। उच्च लक्ष्य अपने सन्मुख रख कर अपने ध्यान तथा अपनी अकांक्षाओं को निरन्तर उसी ओर लगाए रखना जीवनोन्नति के लिये अत्यावश्यक होता है। लक्ष्य का चिन्तन हमारे अन्दर उस की ओर कर्म-प्रेरणा उत्पन्न करता है। कर्म-प्रेरणा जीवन के साध्य की सिद्धि की ओर ले जाती है।

एक लक्ष्य की प्राप्ति पर हमारी कल्पना हमारे सन्मुख एक अन्य उच्च लक्ष्य की स्थापना कर देती है जिस की ओर भी पहिले की तरह हमारी कर्म-प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इस नये लक्ष्य की प्राप्ति पर एक अन्य लक्ष्य उपस्थित हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य धीरे २ परम पुरुषार्थ की प्राप्ति में लगा रहता है। जिस व्यक्ति की कल्पना शक्ति कुण्ठित होती है उस के सामने उन्नति का मार्ग बन्द रहता है। वह अपने सन्मुख न किसी लक्ष्य को देखता है और न ही जीवनोन्नति की अभिलाशा उसके मन में उठती है। उन्नति की अभिलाषा बिना लक्ष्य के हो ही नहीं सकती। उन्नति वास्तव में लक्ष्य की ओर गति का ही नाम है। प्रत्येक गति उन्नति की सूचक नहीं होती। केवल उसी गति का नाम उन्नति रखा जाता है जो लक्ष्य की ओर ले जाती है। लक्ष्य हीन गति को केवल एक निरर्थक जीवन-परिवर्तन समझना चाहिये।

कल्पना का प्रभाव मनुष्य के शरीर पर

यह सर्वसम्मत पक्ष है कि कल्पना शक्ति मनुष्य के स्वास्थ्य को खूब प्रभावित करती है। यदि एक मनुष्य कल्पना कर लेवे कि वह स्वस्थ या अस्वस्थ है तो उसी के अनुसार कल्पना का प्रभाव उस के शरीर में नज़र आने लगता है। ऐसे बहुत से उदाहरण लोगों के अनुभव में आते हैं जहां किसी को विश्वास

पूर्वक यह कह देने से कि "तुम कैसे बिमार नज़र आते हो" वह सचमुच बिमार पड़ जाता है। लेखक का अपना अनुभव इस बात की साक्षी देता है कि जब वह कालिज में पढ़ता था तो उस के साथ एक निर्बल हृदय वाला विद्यार्थी रहता था जिसे अपने स्वाथ्य की चिन्ता दिन रात लगी रहती थी। जहां से वह कोई बात स्वास्थ्य सम्बन्धी श्रवण कर लेता था तो उस के अनुसार कर्म करने में तत्पर हो जाता था। एक बार विद्यार्थियों को दिल्लगी सूझी। कल्पना शक्ति के प्रभाव का परीक्षण करना चाहा, तीन चार ने मिलकर उस को पृथक पृथक एक ही दिन में यह कहा "मित्र! तुम बीमार नज़र आते हो, क्या कारण है?" उन सब को एक ही बात कहते सुन वह सचमुच अपने आप को बिमार ही कल्पना करने लग गया। इस कल्पना का प्रभाव उस पर इतना हुआ कि वह उसी दिन ज्वर पीड़ित होकर शैय्यारूढ़ हो गया। विद्यार्थी जब कालिज से लौट कर आश्रम में आए तो उस को बिमार देखकर खूब हंसे और उसे कहने लगे 'अरे मित्र हम ने तो तुम से हंसी की थी। परन्तु अब क्या था, हंसी अपना कार्य कर गई।

बड़े २ प्रसिद्ध चिकित्सकों ने भी इस बात की साक्षी दी है कि रोगियों के अच्छा करने में औषधि इतनी कारगर नहीं होती जितना रोगियों की अपनी कल्पना शक्ति। यदि किसी

प्रकार से रोगी के दिल में यह विश्वास बिठा दिया जावे कि वह अच्छा हो रहा है तो सचमुच वह रोगी अपने आप को स्वस्थ कल्पना करते करते स्वस्थ हो ही जाता है। जो चिकित्सक अपने भाषण में मीठा नहीं और जो रोगी के हृदय में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकता वह अपने व्यवसाय में अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अमेरिका में विश्वास-चिकित्सा के मानने वाले बहुत से ईसाई पादरी हैं जिन को "क्रिश्चियन वैज्ञानिक" कहा जाता है। उन का यह मत है कि विश्वास से सारे रोग दूर किये जा सकते हैं। औषधियों के सेवन का उन की सम्मति में कोई फल नहीं। यद्यपि उन का यह कथन सर्वांश में सत्य नहीं तथापि इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि वे कल्पना शक्ति के प्रभाव से बहुत कुछ रोग निवृत कर लेते हैं। जादू टूना और मन्त्र जन्त्रों से जो रोगों को दूर किया जाता हैं वहां पर भी कल्पना शक्ति का ही अधिकांश प्रभाव होता है। सुप्रसिद्ध (Patent) औषधियों का बहुत कुछ प्रभाव उस विश्वास द्वारा ही होता है जो लोगों को उन के प्रति पूर्व से ही होता है।

कभी कभी कल्पना का प्रभाव इतना भयानक होता है कि मृत्यु का कारण बन जाता है। यह उस परीक्षण से स्पष्ट विदित हुआ था जो एक बार फ्रांस देश के चिकित्सकों ने एक

अपराधी पर किया था, जिस को राज्य की ओर से मृत्यु का दण्ड दिया गया था। उस अपराधी को चिकित्सकों ने कहा कि तुम्हारी नसों को काट कर और रक्त को बहा कर तुम्हें मार दिया जावेगा। अपराधी की आंखें बांध दी गईं और उसे मेज़ पर लिटा दिया गया। तब उस के एक वाजू में निश्तर चुभो दिया गया और पास ही कोष्ण जल रख उस के बाजू पर से धीरे धीरे नीचे सरकाया गया। उस अपराधी को यही विश्वास था कि उस का रक्त बह रहा है। साथ ही वह यह कल्पना करने लगा कि "मैं अब मरा अब मरा" अपने आप को मरणावस्था में लेगया। पास खड़े होने वालों ने भी बार बार यही कहा कि अब इस का बहुतसा खून निकल चुका है, अब यह मृत्यु के निकट पहुंच चुका है अब इसकी नाड़ी मन्द पड़ गई है इत्यादि। सचमुच उस अपराधी की अवस्था शनैः शनैः बदलने लगी और वह वास्तव में ही मर गया। उस की अपनी कल्पना शक्ति ने उसे मृत्यु के मुख में पहुंचा दिया।

कल्पना एक महती शक्ति है

उपरोक्त परीक्षण इस महती शक्ति का उदाहरण है। मनुष्य जीवन के सुधार अथवा बिगाड़ दोनों का वह कारण बन सकती है। यदि इस को ठीक रीति से उन्नत किया जावे तथा यन्त्रणा में रखा जावे तो मनुष्य जीवन के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। हमारी मान-

सिक, वैज्ञानिक, धार्मिक, सामाजिक तथा व्यवहारिक उन्नति सब के लिये कल्पना शक्ति की आवश्यकता रहती है। इसी के द्वारा हम अपने प्रतिदिन के जीवन को आनन्दमय बना सकते हैं। इस के विना जीवन यन्त्रवत् नीरस बना रहता है। इसी शक्ति की सहायता से हम अपने भूत कालिक अनुभव का वर्तमान काल में लाभ उठा सकते हैं तथा अपने भावी जीवन के कृत्यों का विचार कर के अभी से अपने आप को उन के लिये तैय्यार रख सकते हैं।

कल्पना शक्ति को उन्नत कैसे कर सकते हैं ?

कल्पना शक्ति को उन्नत करने के लिये पहिली करणीय बात यह है कि हम अपनी निरीक्षण शक्ति को बढ़ावें। तथा प्रत्यक्ष ज्ञान को ध्यान पूर्वक प्राप्त करें। अपनी इन्द्रियों का विस्तृत प्रयोग करें। जो लोक घर की चार दिवारी में बन्द रहते हैं वे लोक कल्पना के विकास के लिये सामग्री ही प्राप्त नहीं करते। कालीदास, शेक्सपियर आदि महा कवि जिन की कल्पना शक्ति की हम लोग इतनी प्रशंसा करते हैं उन्हों ने मनुष्य स्वभाव तथा नैसर्गिक दृश्यों को खूब अवलोकन किया था। इस लिये उनकी कल्पनाओं में स्वभाविकता मिलती है। हमारे चारों ओर घास, फूल, पत्ते, वृक्ष, पर्वत, पक्षी, मनुष्य, नदी आदि सब पदार्थ हमारी कल्पना शक्ति को उत्तेजित कर सकते हैं यदि हम अपनी आंखों और कानों को खुला रखें। दूसरा उपाय कल्पना

शक्ति को उन्नत करने का यह है कि जो ज्ञान-सामग्री निरीक्षण द्वारा हम प्राप्त करते हैं उस को समय पर स्मरण कर सकें तथा अवलोकन किये हुए पदार्थों के चित्र स्पष्टतया अपनी मानसिक चक्षुओं के सामने ला सकें। तीसरा उपाय यह है कि उन चित्रों के विश्लेषण का अभ्यास डालें। अर्थात् उन के अवयवों को विभक्त करके उन का पृथक् २ चिन्तन कर सकें। अन्ततः उन अवयवों को नये नये मिश्रणों में रख कर ज्ञान के नये नये रूप उत्पन्न करने का अभ्यास डालें। कई लोकों को कल्पना शक्ति को इस प्रकार के कृत्रिम साधनों द्वारा उन्नत करने का सन्देह होता है परन्तु यह उनकी भूल है। स्वाभाविक कल्पना यद्यपि बहुत कुछ परिश्रम का आश्रय नहीं लेती तथापि उपरोक्त साधनों द्वारा प्रसुप्त कल्पना जागृत की जा सकती है। प्रतिभाशाली मनुष्यों का तो कहना ही क्या है। उनके तो पूर्व जन्म के सञ्चित संस्कार उद्बोधक के मिलने पर तुरन्त जागृत हो उठते हैं। यही बात उनकी कल्पना की विलक्षणता अथवा मौलिकता का प्रधान कारण होती है। उपरोक्त साधनों के अतिरिक्त कविता का अध्ययन तथा उपन्यासों का पाठ भी थोड़ा बहुत कल्पना शक्ति को प्रोत्साहित करता है। परन्तु उनमें इतना लिप्त न होना चाहिये कि हम अपनी स्वाभाविक निरीक्षण शक्ति की ओर कुछ ध्यान न दे सकें॥

तेरहवां अध्याय

विचार

पहिले दो स्मारक शक्तियों, स्मृति तथा कल्पना का वर्णन हो चुका है। इस अध्याय में तीसरी स्मारक शक्ति विचार का व्याख्यान किया जायगा। प्रत्यक्षज्ञान, स्मृति तथा कल्पना इन तीनों का सम्बन्ध मूर्त पदार्थों के साथ रहता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय के साथ सीधा सम्बन्ध हमें जोड़ना पड़ता है परन्तु स्मृति और कल्पना के अन्दर यद्यपि अनुभूत विषय का सीधा सम्बन्ध नहीं होता तथापि उसी के संस्कारों से कार्य चलता है। विचार इन उपरोक्त दो स्मारक शक्तियों से इस अंश में भिन्न है कि इसे अमूर्त सामग्री से कार्य लेना पड़ता है। इस का कार्य पदार्थों और भावों के पारस्परिक सम्बन्धों से रहता है।

विचार का लक्षण

विचार उस मानसिक शक्ति का नाम है जो पदार्थों की पारस्परिक तुलना करके उनके सादृश्य तथा असादृश्य का बोध कराती है। जब एक बच्चा पहिले २ अग्नि को देखता है तो सम्भव है कि उससे वह अपना हाथ जला बैठे। जब दूसरी बार उसे वह देखताहै तो स्मृति उस को अपना पूर्वानुभव याद दिला देती है परन्तु विचार द्वारा ही

वह अग्नि और उसके जलाने में नियत सम्बन्ध का निश्चय कर के अपने आप को जलने की भावी आपत्ति से बचा सकता है।

विचार के विकास का सिलसिला अत्यन्त बाल्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है। कई लोकों का विचार इस के विपरीत है। उन की सम्मति में आठ दश वर्ष से पूर्व का बचा विचार नहीं कर सकता। परन्तु यह उन की भूल है अनुभव इस बात की साक्षी नहीं देता। वास्तव में विचार शक्ति के चिन्ह नन्हें बच्चे में भी पाए जाते हैं। विचार विकसित होता है। क्रमशः उन्नत होता है। यद्यपि अन्य सब मानसिक शक्तियों की अपेक्षा इस की पूर्ण उन्नति के लिये अधिक समय दरकार होता है। जब एक छोटे बच्चे के सामने एक मिसरी की डली और एक लकड़ी का टुकड़ा दोनों लाते हैं तो बच्चा मिसरी की डली की ओर खिंच जाता है और लकड़ी के टुकड़े की ओर से मुंह मोड़ लेता है। यह भेद-विवेचन उस के अन्दर विचार क्रिया का बोधक होता है। यद्यपि भाषा में बच्चा अपने विचार का प्रकाशन नहीं कर सकता तथापि उस के मन में विचार की सरल क्रिया हो रही होती है। बच्चे की प्रारम्भिक "क्यों और कैसे" स्पष्टतया इस बात का विधान करती हैं कि उस के अन्दर विचार शक्ति अपना कार्य कर रही है।

प्रत्यक्ष ज्ञान स्मृति तथा कल्पना में विचार का समावेश

विचार के बिना प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति ही असम्भव ठहरती है। जब मैं यह कहता हूं कि इन्द्रसेन घोड़े पर सवार है तो मैं घोड़े और इन्द्रसेन में भेद करता हूं तथा उन में सवारी के सम्बन्ध की स्थापना करता हूं परन्तु यह बातें विचार का फल हैं। इसी प्रकार जब मैं गत सहभोज का स्मरण करता हूं तो वहां पर जिन मित्रों के साथ मेरी भेंट हुई थी और जिस स्थान पर उस सहभोज का प्रबन्ध किया गया था इत्यादि बातों का ज्ञान उन के परस्पर भेदों के अवगत करने के बिना नहीं हो सकता, अतः स्मृति ज्ञान में भी विचार का समावेश होता है। यही बात कल्पना में भी दीखती है। जो इञ्जनीयर एक नये प्रकार के सेतु के निर्माण की कल्पना कर रहा है वह वास्तव में प्रचण्ड विचार के प्रवाह से गुज़र रहा है। उसे अनेक प्रकार के सेतुओं का चिन्तन करना पड़ता है, उन के परस्पर भेदों को ज्ञात कर के वह एक ऐसे सेतु की रचना का चिन्तन करता है जिस का अङ्ग प्रत्यङ्ग दृढ़ और चिरस्थाई हो।

विचार विधि के क्रम

विचार विधि में तीन क्रम पाये जाते हैं (१) पदार्थ बोध (Conception), (२) वाक्यार्थ बोध (Judgment), (३) तर्क अनुमान (Reasoning)। प्रत्येक पदार्थ से जो हमें ज्ञान होता है उसे पदार्थ बोध कहते

हैं। अश्व पद के उच्चारण करने पर जो हमें आन्तरिक बोध होता है वह अश्व के पदार्थ का बोध है। यह बोध कुछ विशेष गुणों का सूचक होता है जिन के द्वारा हम अश्व का अन्य सब पदार्थों से भेद करते हैं। यह पदार्थबोध हमें कैसे होता है इस का दिखाना हमें यहां अभीष्ट है।

पदार्थ बोध की विधि

(क) वस्तु दर्शन

पदार्थ बोध की प्राप्ति के लिये हमें कई बातों की आवश्यकता होती है। पहली बात वस्तु दर्शन (Observation) है अर्थात् विशेषों का निरीक्षण। यदि मेज़ का पदार्थ बोध हमें प्राप्त करना है तो कई प्रकार के मेज़ों को देखना पड़ेगा।

(ख) पारस्परिक तुलना

दूसरी बात जो आवश्यक होगी वह भिन्न भिन्न मेज़ों की पारस्परिक तुलना है। इस के द्वारा मेज़ के सब नमूनों को सन्मुख लाकर उन के भेद और अभेद के अंशों की विवेचना की जाती है। उदाहरणार्थ–मेज़ या तो लकड़ी के होंगे या लोहे के या पत्थर के। उन की आकृतियों के भी इसी प्रकार कई भेद होंगे।

(ग) साधर्म्य ज्ञान

तीसरी बात साधर्म्य ज्ञान है अर्थात् उन समान गुणों का बोध जो सब प्रकार के मेज़ों में उपस्थित रहते हैं (मेज़ों में समान गुण कौन से पाए जाते हैं ?)।

(घ) सामान्य ज्ञान

चौथी बात उन समान गुणों को समूह रूप में चिन्तन कर के एक पृथक श्रेणी की स्थापना करना जो अन्य सब श्रेणियों से भिन्न हो इस क्रिया को जाति बोध भी कहते हैं।

(ङ) नामकरण

अन्तिम बात उस पृथक श्रेणी को नाम देना है। यह नाम देना सुगमता के लिये होता है, प्रत्येक नाम एक जाति के समान गुणों की ओर सङ्केत करता है। यदि नाम नियत न किया जावे तो हर बार हमें उन समान गुणों का स्मरण करना पड़ेगा।

अनुभव की वृद्धि से पदार्थबोधों में परिवर्तन

यतः एक श्रेणी के सब व्यक्तियों का पृथक पृथक् दर्शन (निरीक्षण) असम्भव होता है। अतः हमारा पदार्थ बोध भी प्रायः सम्पूर्ण नहीं होता। बाल्यावस्था से ज्यों ज्यों हमारा अनुभव क्रमशः बढ़ता चला जाता है त्यों त्यों हमारे पदार्थ बोधों में भी परिवर्तन आता जाता है। जिन लोगों ने केवल काली भैंसें ही देखी हों उन के भैंस सम्बन्धी पदार्थ बोध में काला रङ्ग ही सम्मिलित रहता है। परन्तु जब वे भूरी भैंसें भी देख लेते हैं तो उन्हें उस पदार्थ बोध का परिवर्तन करना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य यदि वह अपने ज्ञान की आन्तरिक समीक्षा करे तो उसे पता लगेगा कि उसे अपने पदार्थ बोधों के बदलने की कितनी आवश्यकता पड़ती है।

प्रश्न

बच्चे के पदार्थ बोधों का एक वयोवृद्ध के पदार्थ बोधों से क्या अन्तर होगा? कुछ एक ऐसे उदाहरण दो जिन से तुम्हारे अपने पदार्थ बोधों का परिवर्तन प्रकट होता हो? यदि एक ग्रामीण ने अंग्रेज़ों तथा किसी विदेशीय मनुष्य को कभी न देखा हो तो उस के मनुष्य सम्बन्धी पदार्थ बोध में विदेशीय लोकों को देख लेने पर क्या अन्तर आएगा?

मानस चित्र और पदार्थ बोध में अन्तर

कई लोक पदार्थ बोध का मानस चित्र से भेद स्वीकार नहीं करते परन्तु मानस चित्र केवल मूर्त पदार्थों का ही होता है। अमूर्त पदार्थों का मानस चित्र नहीं हो सकता। हरी चीज़ का मानस चित्र तुम प्राप्त कर सकते हो परन्तु हरियावल का नहीं। हरियावल एक अमूर्त पदार्थ है इस का पदार्थ बोध हमें हो सकता है परन्तु चित्र बोध नहीं। सब पदार्थ बोध अमूर्त भावों के सूचक होते हैं मूर्त भावों के नहीं। मूर्त भावों (Images) का प्रयोग स्मृति और कल्पना में होता है। पदार्थ बोध में हम पदार्थ के मूर्त स्वरूप से हट कर केवल उस के साधर्म्य का चिन्तन करते हैं।

पदों के दो प्रकार के अर्थ

प्रत्येक पद के दो प्रकार के अर्थों का भेद किया जा सकता है--१ वस्तु बोधन की दृष्टि से। जब हम मनुष्य पद का उच्चारण करते हैं तो उस का पहिला तात्पर्य सब मनुष्यों से होता है जिन पर वह मनुष्य

पद घट सकता है। २ गुण बोधन की दृष्टि से। उस का दूसरा तात्पर्य उन सब समान गुणों से होता है जिन के कारण हम सब व्यक्तियों को मनुष्य कहते हैं तथा जिन के द्वारा हम मनुष्यों का अन्य प्राणियों तथा पदार्थों से भेद करते हैं।

वाक्यार्थ बोध

वाक्यार्थ बोध दो या दो से अधिक पदार्थ बोधों के बीच में सम्बन्ध स्थापना करने का नाम है। सम्बन्ध जोड़ने वाले पद को संयोजक कहते हैं तथा जिन के अन्दर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है उन्हें उद्देश्य या विधेय कहते हैं। प्रत्येक वाक्यार्थ बोध में तुलना का भाव अवश्य रहता है जब हम यह कहते हैं कि घोड़ा उपयोगी प्राणी है तो यहां पर घोड़े और उपयोगी प्राणी की परस्पर तुलना की गई है। और उनके बीच में प्राप्ति का सम्बन्ध जोड़ा गया है। वाक्यार्थ बोध की सत्यता अथवा असत्यता का प्रश्न मनोविज्ञान का प्रश्न नहीं है। मूलतः यह तर्कशास्त्र की समस्या है और वहीं पर इस की विस्तार पूर्वक विवेचना होनी चाहिये। मनोविज्ञान केवल इतना ही निरूपण कर सकता है कि सत्य अथवा असत्य वाक्यार्थ बोध के समय हमारे चित्त की दशा कैसे होती है? जब हम किसी वाक्यार्थ बोध का सत्य होना निर्णय करते हैं तो उस समय हम अपने अन्दर एक प्रकार के सन्तोष के भाव का अनुभव करते हैं और वह वाक्यार्थ बोध हमारे

पूर्वप्राप्त वाक्यार्थ-बोधों के साथ अनुकूल सिद्ध होता है यदि अनुकूलता के स्थान में प्रतिकूलता प्रकट हो तो हमें किसी न किसी वाक्यार्थ बोध में परिवर्तन लाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। कभी कभी अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दोनों के स्थान में एक ऐसी मानसिक दशा का अनुभव करते हैं जिस में नये वाक्यार्थ बोध को पूर्वप्राप्त वाक्यार्थ बोधों के साथ न तो सर्वांश में अनुकूल कह सकते हैं और न प्रतिकूल। इस द्विचित्ती की दशा को हम शङ्का कहते हैं।

तात्कालिक वाक्यार्थ बोध

बाल्यावस्था में बच्चों के वाक्यार्थ बोध प्रायः तात्कालिक ही होते हैं, तात्कालिक वाक्यार्थ बोध बाह्य साक्षी की अपेक्षा नहीं करते। बाह्य साक्षी की उपलब्धि परिपक्व चिन्तन शक्ति को ही अपेक्षित होती है। यदि बच्चों से आप प्रश्न पूछें तो वे तुरन्त उत्तर देंगे चाहे उनके उत्तर कितने ही विचित्र क्यों न प्रतीत हों।

तर्क

परन्तु बहुत सारे वाक्यार्थ बोध अनुमान द्वारा हमें प्राप्त होते हैं। जब एक वाक्यार्थ बोध का अन्य वाक्यार्थ बोधों से अनुमान किया जावे तो इस विचार क्रम को हम तर्क कहते हैं। जब मैं अपनी खिड़की से बाहिर की ओर देखता हूं और यह कह देता हूं कि "सूर्य चमक रहा है" जब कि मैं सूर्य को नहीं देख पाता तो उस समय मैं वास्तव में अनुमान कर

रहा हूं। इसी अनुमान को यदि सम्पूर्ण रीति से अवयवों में प्रकट किया जावे तो उस का यह रूप होगा। जब जब मैं बाहिर विशेष उज्वल प्रकाश को देखता हूं तब तब सूर्य चमक रहा होता है। अब मैं विशेष उज्वल प्रकाश को देख रहा हूं। अतः अब सूर्य चमक रहा है।

तर्क अनुमान के दो प्रकार

तर्क दो प्रकार का बतलाया जाता है। १-विशेष सामान्य अनुमान। जब कई विशेषों को देख कर हम एक सामान्य परिणाम का ग्रहण करते हैं तो उस विचार क्रम को विशेषसामान्यअनुमान अथवा व्याप्ति कहते हैं। उदाहरणार्थः-जब हम देखते हैं कि भूत काल में मनुष्य मरे हैं अब भी मनुष्य मर रहे हैं तो इस ज्ञान के आधार पर प्रकृति की एकसारता पर विश्वास करते हुए हम यह परिणाम निकालते हैं कि सब मनुष्य मरणधर्मा हैं। प्रकृति की एकसारता में विश्वास व्याप्तिनिश्चय के लिये आवश्यक है क्योंकि यह एक ऐसा व्यापक सिद्धान्त है जो सारे विचार की रचना में पाया जाता है और जिस के बिना विचार की सत्ता ही नहीं रह सकती। सत्य ज्ञान का स्रोत यही मूल स्वीकृति है।

२-सामान्यविशेषअनुमान (तर्क) जब एक व्याप्ति को सन्मुख रख कर विशेष के सम्बन्ध में अनुमान किया जावे तो उस विचार क्रम को सामान्यविशेषअनुमान कहा जाता है, उदाहरणार्थः—

सब मनुष्य मरण धर्मी हैं।

राम मनुष्य है।

अतः राम मरण धर्मा है।

तर्क का लक्ष्य हमें सुगमता से नये ज्ञान की प्राप्ति करवाना है। इसी के निमित्त उपरोक्त दो प्रकार के अनुमान का हम अवलम्बन करते हैं। परन्तु कई बार पर्याप्त साक्षी के उपस्थित न होने पर भी हम अनुमान ग्रहण कर लेते हैं। हम इसे क्षिप्र अनुमान कहते हैं। इस प्रकार के अनुमानों से हमें बचना चाहिये। उदाहरणार्थः—यदि एक अङ्गरेज़ भारतवर्ष में आ कर एक दो स्थानों में रह कर कुछ थोड़े से भारत-वासियों को देख कर सारे भारत-वासियों के सम्बन्ध में विशेष सम्मति बना लेवे तो वह सम्मति उस के क्षिप्र अनुमान का फल होगी जो सम्भवतः असत्य होने के कारण बहुत सी भ्रान्ति फैलाने का साधन बनेगी।

प्रकृति की एक सारता के मूल सिद्धान्त के अतिरिक्त कुछ अन्य गौण सिद्धान्त भी हैं जिन की स्वीकृति विचार के लिये आवश्यक मानी गई है। उन को तर्क शास्त्र में विचार के मूल नियम कहा गया है। उन के नाम यह हैं:—

१–तदात्म न्याय।

२–विरोध न्याय।

३–मध्याभाव न्याय।

इन उपरोक्त नियमों के अतिरिक्त कई और विचार सम्बन्ध भी जिन को विचार की संज्ञाएं भी कहा गया है चिन्तन के लिये आवश्यक मानी गई हैं। यह विचार सम्बन्ध निम्न प्रकार के माने गये हैं–देश, काल, कार्य, कारण, अङ्ग, अङ्गी, एकत्व, अनेकत्व, राशि आदि।

बहुत से दार्शनिकों का यह विचार है कि यह सम्बन्ध हमारी मानसिक रचना में व्याप्त रहते हैं। वाह्य पदार्थों के अनुभव के समय यह उद्बुद्ध हो जाते हैं। हमारा सारा अनुभव इन्हीं की सीमाओं में बन्धा रहता है। अनुभव की सत्ता इन की स्वीकृति के बिना कुछ अर्थ नहीं रखती। परन्तु अन्य विचारकों का यह ख्याल है कि यह सम्बन्ध हमारे वाह्य अनुभव की उपज हैं जैसे अन्य सारा ज्ञान अनुभव द्वारा प्राप्त होता है वैसे ही इन सम्बन्धों के ज्ञान का स्रोत भी हमारा अनुभव ही है। दोनों प्रकार के विचारक अपने पक्ष की सिद्धि में युक्तियां देते हैं जिन का उल्लेख हमें यहां अभीष्ट नहीं।

क्या पशु विचार करते हैं?

यह प्रश्न तुलनात्मक मनोविज्ञान का है तथा अधिक विवादास्पद है। इस पर विस्तार पूर्वक लिखने के लिये अधिक समय तथा परिश्रम की आवश्यकता है। यहां पर इस प्रश्न का साङ्केतिक निर्देश ही पर्याप्त होगा। कई पशुओं में, जैसे बन्दर, घोड़ा, कुत्ता इत्यादि, बुद्धि के इतने स्पष्ट चिन्ह प्रकट होते हैं कि

उन की विचार शक्ति को स्वीकार न करना असम्भव हो जाता है। परन्तु दूसरी ओर यह निश्चय पूर्वक कहना कि उन के मन में वैसा ही विचार क्रम उपस्थित होता है जैसा कि मनुष्य के मन में, यह भी बड़े साहस का कार्य है। मानुषी मस्तिष्क की रचना पशुओं के मस्तिष्क की रचना से बहुत भिन्न होती है। पशुओं के मस्तिष्क की रचना में वह पेचीदगी नहीं होती जिस पर उच्च कोटि का विचार आश्रित रहता है। हां उन पशुओं का मस्तिष्क जो बुद्धि का अधिक परिचय देते हैं लगभग मनुष्य के मस्तिष्क की रचना के साथ सादृश्य प्रकट करता है। अतः विश्वास पूर्वक इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि मनुष्य के विचार और पशु के विचार में बड़ा अन्तर होता है पशु को प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है परन्तु वह एक प्रत्यक्ष-ज्ञान का दूसरे प्रत्यक्ष-ज्ञान के साथ विचार पूर्वक सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता। इस सम्बन्ध न जोड़ सकने के कारण उस ज्ञान के संस्कार उस के मस्तिष्क में सञ्चित नहीं रहते। संस्कारों के सञ्चित न रहने से मनुष्य की तरह उसे स्मृति ज्ञान भी नहीं हो सकता। स्मृति ज्ञान का अभाव उसे अपने भूत कालिक अनुभवों से वर्तमान काल में लाभ उठाने से वञ्चित रखता है। स्मृति का अभाव उस के मन में कल्पना शक्ति को भी विकसित नहीं होने देता और कल्पना का अभाव उस को अपने भविष्य के चिन्तन में बाधक होता है, इसी लिये यह कहा जाता है कि पशु केवल

वर्तमान में ही रहते हैं। उन के लिये भूत और भविष्यत नहीं होता।

पशु के विचार में अधिकांश मूर्त चिन्तन व्याप्त रहता है अर्थात् मूर्त पदार्थों की परिस्थिति में रह कर उस की स्वाभाविक प्रवृत्तियां जागृत होती हैं और उसे प्रतिक्रिया करने पर बाधित करती हैं। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों के पुनः पुनः जागृत होने से पशु उन का सम्बन्ध मूर्त पदार्थों के साथ जोड़ लेता है और वे मूर्त पदार्थ जब जब उपस्थित होते हैं तब तब निश्चित प्रतिक्रिया उस से करवाते हैं। पशु को प्रतिक्रिया करते समय न्यूनाधिक उस मूर्त पदार्थ का बोध रहता है। यही बोध मूर्त चिन्तन का सूचक है। मनुष्य का विचार मूर्त चिन्तन से आगे बढ़ता है। वह मूर्त परिस्थिति के न होने पर भी पदार्थों के सम्बन्धों को अवगत कर के अमूर्त चिन्तन भी कर सकता है। यह अमूर्त चिन्तन सावयव अनुमान के रूप में प्रकट किया जा सकता है। और पशु के लिये यह सर्वथा असम्भव है। पशु के मस्तिष्क में वह केन्द्रिक कोष्ठ ही नहीं होते जिन की सहायता से मनुष्य अमूर्त चिन्तन करता है।

चौदहवां अध्याय

संवेदन तथा भाव

पुस्तक के आरम्भ में हम ने इस बात की ओर संकेत किया था कि मनुष्य की आत्मा अपने आप को तीन प्रकार के मानसिक व्यापारों द्वारा प्रकाशित करती है जिन्हें ज्ञान, संवेदन तथा क्रिया सम्बन्धी व्यापार कहते हैं। ज्ञान सम्बन्धी व्यापारों की चर्चा हो चुकी है अब यहां पर हम संवेदन रूपी व्यापारों की चर्चा प्रारम्भ करते हैं। संवेदन वस्तुतः ज्ञान और क्रिया के बीच में संयोजक का काम देता है अथवा क्रिया की ओर प्रेरणा का साधन बनता है।

संवेदन का लक्षण

संवेदन से हमारा तात्पर्य मन की सुखात्मक अथवा दुःखात्मक दशा से होता है। साधारणतया सब मानसिक व्यापार संवेदन की इन दो दशाओं में से किसी न किसी के साथ न्यूनाधिक सम्पर्क रखते हैं। संवेदन रहित व्यापार का चिन्तन असम्भव है।

इंद्रिय संवेदन

कई इन्द्रियानुभव अपने तीव्र रूप में संवेदनात्मक दशा को उत्पन्न कर देते हैं। तथा कई अपनी साधारण अवस्था में भी संवेदन का परिचय देते रहते हैं। प्रकाश का तीव्र अनुभव हमें दुःखी कर देता है। परन्तु रसना तथा गन्ध का साधारण अनुभव भी संवेदनात्मक

होता है। स्पर्शानुभव भी इसी प्रकार संवेदन को उत्पन्न करता है। गर्मी में हमें ठंडी चीजों का सम्पर्क रुचिकर प्रतीत होता है परन्तु सर्दी में वही सम्पर्क रुचिकर नहीं होता। उनके स्थान में गर्म चीज़ों का सम्पर्क सुख प्रद होता है।

सुख दुःख का विचार

सुख दुःख दोनों अनुभवगम्य पदार्थ हैं जिन्हें इनका अनुभव कभी न हुआ हो उनके सामने लक्षण द्वारा सुख दुःख का दर्शाना सर्वथा असम्भव है। दोनों ही मन की संवेदनात्मक दशाएं हैं। एक रुचिकर होती है और दूसरी अरुचिकर। सुख दुःख की व्याख्या के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों ने बहुत विस्तृत विचार किया है उनकी कल्पनाएं तीन प्रकार की हैं–

१–मनोवैज्ञानिक कल्पनाएं। जो चेतना की दृष्टि से सुख दुःख की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक सामान्य नियम का निरूपण करती हैं।

२–जीवन विद्या सम्बन्धी कल्पनाएं। जो सुख दुःख की व्याख्या विकास वाद की दृष्टि से करती हैं।

३–मनोदैहिक कल्पनाएं। जो सुख दुःख की उत्पत्ति का आधार केन्द्रिक नाड़ी संस्थान को स्वीकार करती है।

हमारा प्रयोजन यहां केवल मनोवैज्ञानिक कल्पनाओं का संक्षेप से उल्लेख करना है। मनोविज्ञान चेतना को स्वभाव से

कर्मशील स्वीकार करता है। तीनों प्रकार के मानसिक व्यापार इसी कर्म शीलता के ही वाह्य प्रकाश हैं। अतः मनोवैज्ञानिकों ने सुख दुःख की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह सामान्य नियम स्थिर किया है कि दुःख चेतना की स्वाभाविक कर्मशीलता के स्तम्भन का नाम है। तथा सुख उसके विपरीत उस कर्मशीलता के अप्रातिबिद्ध व्यापार का नाम है। इस सिद्धान्त को उन्हों ने ज्ञान, इच्छा, तथा क्रिया तीनों पर घटा कर दिखलाया है। ज्ञान के व्यापार में ज्ञेय पदार्थ की प्राप्ति के लिये चेतना उद्योग करती है। यदि उस प्राप्ति में बाधा उपस्थित हो तो दुःख परिणाम होगा अन्यथा सुख। इच्छा के व्यापार में ईप्सित पदार्थ की प्राप्ति सुखोत्पादक होगी और उसकी अप्राप्ति दुःखोत्पादक। इसी प्रकार क्रिया के व्यापार में क्रिया के लक्ष्य की सिद्धि सुखदायक होगी तथा उसकी असिद्धि दुःखदायक।

जीवन विद्या के पण्डित स्पेन्सर आदि विकासवाद का सहारा लेते हुए यह निश्चय करते हैं कि जो क्रियाएं हमारे जीवन वृद्धि की साधन बनती हैं वे सुखोत्पादक होती हैं तथा इन के विपरीत जो क्रियाएं जीवन वृद्धि में बाधक होती हैं वे दुःखोत्पादक बनती हैं। मनो-दैहिक कल्पना की दृष्टि से दुःख सुख-विवेचन इस प्रकार किया जाता है। हमारे वाह्य उद्भावक हमारे मस्तिष्क में क्षोभ उत्पन्न करते हैं यदि वह क्षोभ असह्य हो

तो दुःख उत्पन्न करेगा। यदि साधारण हो तो सुखोत्पादक होगा। जब एक अन्धेरे कमरे से यकायक हम बाहिर आ जाते हैं तो उज्वल प्रकाश हमें दुःख प्रद हो जाता है। सेब की साधारण तुरषी सुख दायक होती है परन्तु वही तुरषी यदि अधिक तीव्र हो तो दुःख देने वाली बन जाती है। कभी कभी उद्भावक का स्वरूप सुख दुःख का निश्चय करता है जैसे वायु के नियमित अनुकम्पनों के प्राप्त करने पर सुखदायक शब्द का बोध होता है परन्तु उन के अनियमित रूप में प्राप्त होने पर शब्द दुःखप्रद बन जाता है। कई कई उद्भावक ही ऐसे हैं जो सुख प्रद होते हैं जैसे सुन्दर पुष्प। विपरीत इस के कई उद्भावक स्वभाव से ही दुःख प्रद होते हैं जैसे कुरूपता का अवलोकन अथवा हिंस्र प्राणियों का दर्शन। अतः उद्भावक की तीव्रता, उस का स्वरूप तथा उस का प्रकार सुख दुःख का निश्चायक होता है। हमारे अभ्यास भी हमारे सुख दुःख का साधन बनते हैं। जिन लोकों को तमाकू पीने की आदत पड़ जाती है उन्हें तमाकू के न मिलने पर दुःख होता है। इसी प्रकार जो लोक अपने धर्म तथा देश के सम्बन्ध में विशेष प्रकार के चिन्तन का अभ्यास डाल लेते हैं उस में परिवर्तन तथा बाधा आने पर उन्हें दुःख का अनुभव करना पड़ता है।

भाव

जब विशेष परिस्थिति का ज्ञान संवेदन उत्पन्न करता है तो वह ज्ञान-सम्मिलित संवेदन हमारे

अन्दर शारीरिक परिवर्तन पैदा कर देता है। वह शारीरिक परिवर्तन (शारीरिक विकार से) उस संवेदन को तीव्र रूप दे देते हैं। यह तीव्र संवेदन भाव कहलाता है। उदाहारणार्थ–जब जङ्गल में भ्रमण करते हुए मैं अपने सन्मुख एक शेर को देखता हूं तो झट मेरे अन्दर भावी हानि का विचार सञ्चारित हो कर मानसिक (क्षोभ) आवेश उत्पन्न कर देता है। और मैं भागता हूं, कांपता हूं तथा अन्य शारीरिक चेष्टाओं का प्रयोग करता हूं। इन शारीरिक परिवर्तनों द्वारा उपलब्ध संवेदन (feelings) पूर्वोपलब्ध मानसिक आवेश के साथ मिल कर एक तीव्र संवेदनात्मक दशा पैदा कर देते हैं जिसे हम भय का भाव कहते हैं। प्रत्येक भाव अपने आप को दो स्वरूपों में प्रकाशित करता है। मानसिक स्वरूप तथा शारीरिक स्वरूप। मानसिक स्वरूप में निम्न अंश सम्मिलित रहते हैं–

(क) विशेष परिस्थिति का ज्ञान (कल्पना या स्मृति) तथा उस के द्वारा वैयक्तिक हानि लाभ का बोध।

(ख) मानसिक आवेश (सुखात्मक तथा दुःखात्मक)।

(ग) क्रिया की ओर प्रवृति।

(घ) शारीरिक परिवर्तनों द्वारा उत्पन्न संवेदन शारीरिक स्वरूप में सम्मिलित अंश।

(ङ) विस्तृत आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन जो (घ) अंश को उत्पन्न करते हैं।

(च) पट्ठां आदि स्थूल अङ्गों की क्रियाएं। जो (ग) अंश द्वारा उत्पन्न होती हैं।

क, ख, ग, घ, अंश मिल कर जिस सम्मिलित एक चेतना की दशा को उत्पन्न करते हैं उसे भाव कहते हैं। प्रत्येक भाव में यह सब अंश एक समान व्यक्त नहीं दीखते। भाव का शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध घ, और ङ, द्वारा प्रकट होता है। शारीरिक अंश ङ, और च, सम्मिलित रूप में शारीरिक विकास अथवा अनुभाव कहलाते हैं। अनुभाव अथवा शारीरिक विकास से हमारा तात्पर्य उन सब शारीरिक परिवर्तनों से होता है जिन्हें भाव की सत्ता उत्पन्न करती है।

भाव की आलोचना के सम्बन्ध में मनोविज्ञान इन तीन प्रश्नों की व्याख्या अपने लिये अभीष्ट समझता है-

(१) क्या सब भाव अपने अन्तिम मानासिक स्वरूप में एक दूसरे से भिन्न हैं? इसी प्रश्न में स्थूल और सूक्ष्म भावों के भेद का प्रश्न भी सम्मिलित है।

(२) भाव का अपने शारीरिक विकास अथवा अनुभाव के साथ सम्बन्ध का प्रश्न।

(३) प्रत्येक भाव की क्रमशः उन्नति का प्रश्न। इसी प्रश्न में मानसिक जीवन के सामान्य विकास का प्रश्न भी सम्मिलित रहता है।

सब भाव संवेदनात्मक दशा से उत्पन्न होते हैं परन्तु अपने स्वरूप में एक नहीं होते। भेद लाने वाले दो कारण उपस्थित रहते हैं, एक तो वाह्य परिस्थिति के ज्ञान का अंश, दूसरा आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन। यहां पर यह भी स्मरण रखना चाहिये कि शारीरिक परिवर्तनों का विस्तार तथा तीव्रता जो किसी भाव के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भिन्न भिन्न पाये जाते हैं।

एक व्यक्ति का अपना स्वभाव तथा शारीरिक रचना भी भाव के स्वरूप में अन्तर लाने का कारण बनती है। परन्तु कई भाव ऐसे हैं जो बहुत तीव्र शारीरिक परिवर्तन पैदा करते हैं। उन परिवर्तनों के बाह्य स्वरूप का वर्णन भी किया जा सकता है। इन भावों को प्रोफैसर जेम्स स्थूल भाव के नाम से पुकारते हैं, जैसे-क्रोध, भय, प्रेम, घृणा, ईर्ष्या, शोक, लज्जा, अभिमान तथा उन के अनेक रूपान्तर परिवर्तन। जो भाव साधारण निर्बल परिवर्तनों को उत्पन्न करते हैं उन्हें सूक्ष्म भाव कहते हैं, जैसे—जिज्ञासा, विद्या, प्रेम, सौन्दर्य, अनुराग, तथा आचारिक या धार्म्मिक भाव और उन के रूपान्तर।

अर्थात् नैतिक सन्तोष, कृतज्ञता, कौतुक, श्रद्धा, विश्वास आदि इन्हीं सूक्ष्म भावों को स्थायी भाव अथवा भाव-प्रवृत्ति (Sentiments or Emotional disposition) भी कह देते हैं। कई मनो वैज्ञानिकों ने भाव-प्रवृत्ति तथा स्थूल भाव में इस प्रकार भेद प्रकट किया है कि भाव-प्रवृत्ति वास्तव में स्थूल भावों को उत्पन्न करने का साधन बनती है। जितनी वह प्रवृत्ति उन्नत दशा में होगी उतने ही अधिक प्रकार के भावों की उत्पत्ति का कारण बनेगी। वह भाव-प्रवृत्ति जैसी २ परिस्थिति के सम्बन्ध में आवेगी वैसे २ भाव उत्पन्न करती चली जाएगी। उदाहरणार्थ—मैत्री एक स्थायी भाव अथवा भाव-प्रवृत्ति है। यह अवस्थाओं के भेद से भिन्न २ भावों को उत्पन्न करती है। मित्र के वियोग से शोक, उस के संसर्ग से सुख, उस के साथ अन्य लोगों के सहवास से ईर्ष्या, उस की सफलता के लिये आशा, उस के भावी दुःख को चिन्तत कर के भय, तथा उस के शत्रुओं के प्रति क्रोध या घृणा, और उस के सम्बन्धियों के साथ प्रेम, यह सब भाव एक मैत्री-प्रवृत्ति के ही फल हैं। इन सब का एक बारगी अनुभव नहीं होता। मैत्री एक उपार्जित भाव-प्रवृत्ति है। इसी प्रकार अन्य भावों के निरन्तर अभ्यास से भी विशेष भाव-प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। क्रोध तथा प्रेम कई

मनुष्यों में अभ्यास द्वारा स्वाभाविक प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेते हैं और वह मनुष्य क्रोधी या प्रेमी कहलाते हैं।

भाव जिस परिस्थिति के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं उसके दूर हो जाने पर भी कुछ समय तक अपनी स्थिति रखते हैं। शोक तथा पश्चाताप जिस कारण से पैदा होता है उस के हट जाने पर भी कुछ देर तक हमें व्यग्रचित्त रखते हैं। जिन संस्थाओं अथवा व्यक्तियों में हमें श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी हो उन के अयोग्य सिद्ध हो जाने पर भी हमारा आकर्षण कुछ देर तक उन की ओर रहता है। कई उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जहां पर हमारे प्रसुप्त भाव न्यूनाधिक फिर जागृत हो जाते हैं। अपने पुराने अध्यापकों के मिलने पर एक मनुष्य में प्रसुप्त सन्मान के अङ्कुर जागृत हो उठते हैं। चाहे वह सन्मान बर्तमान समय या परिस्थिति में आवश्यक प्रतीत न हो।

भाव और उस का शारीरिक विकास (अनुभाव)

भाव और उस के शारीरिक विकास के सम्बन्ध में लोकमत यह है कि भाव पूर्ववर्ती होता है और शारीरिक विकास अनुवर्ती। भाव शारीरिक विकास को उत्पन्न करता है, इसी लिये शारीरिक विकास को अनुभाव (Physical Expression) कहते हैं। प्रोफैसर विलियम जेम्स का सिद्धान्त इसके सर्वथा विपरीत है। वह मानता है कि शारीरिक विकास पहिले होता है। तदनन्तर भाव

उत्पन्न होता है। इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये जेम्ज़ महाशय अपनी मनोविज्ञान की पुस्तक में बहुतसी युक्तियों और प्रमाणों का उल्लेख करते हैं जिन का विस्तार पूर्वक विवरण उन्हीं की पुस्तक में देखना चाहिये। वह लिखता है "लोकमत के अनुसार जब हम पर आपत्ति पड़ती है तो हम शोकातुर हो जाते हैं और रोने लग जाते हैं। जब हम एक भालू को देखते हैं तो भयभीत हो जाते हैं और दौड़ने लगते हैं। जब हमारा प्रतिद्वन्द्वी हमारा अपमान करता है तो हमें क्रोध आता है और हम उसे मारते हैं। परन्तु जिस मत का पोषण मैं करता हूं उस के अनुसार यह अनुक्रम ठीक प्रतीत नहीं होता अर्थात् ज्ञानावस्था के ठीक पीछे भावावस्था उत्पन्न नहीं होती। अपितु उन दोनों के बीच में शारीरिक परिवर्तनों की स्थिति आवश्यक है अतः वैज्ञानिक क्रम के अनुसार हमें यह कहना पड़ेगा कि हमारे शोकातुर होने का कारण हमारा चिल्लाना है हमारे क्रुद्ध होने का कारण शत्रु का पीटना है और हमारे भयभीत होने का कारण हमारा काम्पना है"। जेम्ज का मत अत्यन्त विलक्षण और विचित्र मालूम होता है। परिस्थिति के ज्ञान के अनन्तर वह आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनों की उत्पत्ति स्वीकार करता है और तदनन्तर उन्हीं परिवर्तनों का अनुभव जिस संवेदनात्मक दशा को उत्पन्न करता है उस का नाम वह भाव रखता है। यदि यह कल्पना सत्य स्वीकार कर लें तो भाव इस के अनुसार ज्ञान, स्नायुज

तथा आन्तरिक शारीरिक अनुभव के बराबर होगा। यह सत्य है कि आन्तरिक अनुभव भाव की उत्पत्ति में भाग लेते हैं परन्तु इस का यह तात्पर्य नहीं कि भाव उत्पत्ति के लिये केवल उन्हीं की सत्ता पर्याप्त है। भाव की उत्पत्ति क, ख, ग, घ, इन चारों अंशों (जिन का ऊपर उल्लेख किया गया है) की सम्मिलित सत्ता का फल है। अपनी कल्पना के पक्ष में जेम्ज़ ने जो प्रधान युक्ति दी है वह यह है "यदि हम किसी तीव्र भाव का चिन्तन करें और फिर उस में से शारीरिक परिवर्तनों का विचार सर्वथा पृथक कर लेवें तो हमारे पास कोई सामग्री अवशिष्ट नहीं रहेगी कि जिस में से भाव की रचना हो सके। केवल शुष्क नीरस ज्ञानावस्था ही शेष रह जावेगी........ भय के भाव का चिन्तन करो। जब कि न हृदय का धड़कना न श्वास का रुकना न होठों का फड़कना न आन्तरिक शारीरिक अङ्गों का क्षोभ उपस्थित हो, मेरे लिये तो इन के बिना भय का चिन्तन असम्भव है। क्या कोई मनुष्य क्रोध के भाव का चिन्तन, बिना छाती के उभरने, चेहरे के लाल होने, नासिका के फड़कने, दान्तों के पीसने, तथा क्रिया प्रवृत्ति के कर सकता है?"। जेम्ज़ के मतानुसार हमें यह तो अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि शारीरिक परिवर्तनों के बिना भाव का चिन्तन नहीं हो सकता परन्तु हम यह मानने पर बाधित नहीं हो सकते कि वे शारीरिक

परिवर्तन ही भाव की उत्पत्ति के कारण हैं। जेम्ज़ इस बात को स्वयं स्वीकार करता है कि परिस्थिति का ज्ञान मूल अंश है। परिस्थिति का ज्ञान हमारे भावी हानि अथवा लाभ की सूचना देता है। तदनन्तर हम एक मानसिक क्षोभ का अनुभव करते हैं। वह मानसिक क्षोभ विस्तृत आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनों का कारण बनता है। इन शारीरिक परिवर्तनों का अनुभव पूर्ववर्ती मानसिक क्षोभ संवेदनात्मक दशा के साथ मिल कर चेतना की एक सम्मिलित दशा उत्पन्न करता है जिस को हम भाव कहते हैं अतः शारीरिक विकास भाव की उत्पत्ति के कारण में एक अंश सिद्ध होता है। यह मत जेम्ज़ के मत तथा लोकमत दोनों से भिन्न है। वर्तमान काल के मनोवैज्ञानिकों ने इसी को स्वीकार किया है। लोकमत शारीरिक विकास से पूर्व भाव की सत्ता को स्वीकार करता है। जेम्ज़ का मत शारीरिक विकास के अनुभव का नाम भाव रखता है अर्थात् भाव को शारीरिक विकास का अनुवर्ती सिद्ध करता है परन्तु जिस मत का हम ने निर्देश किया है वह मैलोन और ड्रमन के अनुसार है इस मत के अनुसार शारीरिक विकास से पूर्व ज्ञान अवस्था तथा संवेदनात्मक दशा को हमें स्वीकार करना पड़ता है। इन तीनों के मिश्रण से जो सामूहिक चेतना की दशा उत्पन्न होती है उस का नाम हम भाव रखते हैं।

विलियम जेम्ज़ के मत का मूलाधार उस की यह वैज्ञानिक स्थापना है (All consciousness is motor) सारी चेतना कर्मशील होती है । इस को मान कर परिस्थिति के प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात ही तुरन्त शारीरिक क्षोभ की उत्पत्ति मान लेता है परन्तु हमारे मतानुसार शारीरिक क्षोभ से पूर्व संवेदन की सत्ता भी माननी पड़ती है। यही कारण है कि एक सुन्दर कविता का गायन एक पठित और अपठित व्यक्ति पर एक समान प्रभाव नहीं डालता। दोनों कविता को श्रुतिगोचर करते हैं परन्तु एक का हृदय आल्हादित, उस का शरीर पुलकित हो जाता है। परन्तु दूसरे का हृदय और शरीर नीरस और शुष्क ही रहता है। इसी प्रकार यही कारण प्रतीत होता है कि एक खुला शेर, पिञ्जरे में बन्द किया हुआ शेर हमें एक समान प्रभावित नहीं करते। यद्यपि शेर की सत्ता का प्रत्यक्षज्ञान दोनों अवस्थाओं में बराबर है। शेर के खुला होने पर शेर की सत्ता मुझे वैयक्तिक हानि का स्मरण कराती है। यह स्मरण मेरे अन्दर संवेदनात्मक दशा पैदा करता है जो शारीरिक विकास में प्रकट हो कर तीव्र रूप धारण कर के भय-मात्र की सत्ता में प्रकट होती है। शेर को पिञ्जरे में बन्द देख कर शेर की सत्ता का ज्ञान यह क्रम उत्पन्न नहीं करता इसी लिये हमें उस से भय नहीं लगता।

विलियम जेम्ज़ अपनी पुस्तक में भाव की आलोचना करते करते कई परस्पर विरुद्ध स्थापनाएं कर डालता है जिन को उनकी पुस्तक में तद्विषयक अध्याय में दिखाया जा सकता है। साधारणतया वह भाव का अनुभाव के पीछे आना ही स्वीकार करता है परन्तु कभी भाव तथा अनुभाव का सहचार भी मान लेता है, कभी उनका ऐक्य तथा कभी उनका लोकमत के अनुसार अनुक्रम।

इन्द्रिय संवेदन और भाव में भेद

इन्द्रिय-संवेदन	भाव (संवेदन)
१. इसमें उत्तेजक सर्वांश में बाह्य होता है।	१. इसमें उत्तेजक अधिकांश अन्तरीय होता है।
२. यह केवल ज्ञापक (अनुभावक) दशा होती है।	२. यह स्मारक दशा होती है।
३. यह शारीरिक दशा की उत्पत्ति पर उपस्थित होती है।	३. यह मानसिक दशा की उत्पत्ति पर उपस्थित होती है।
४. यह मौलिक दशा है। अथवा पूर्व भावी दशा है।	४. यह व्युत्पन्न (उद्भुत) दशा है।
५. यह सरल दशा होती है।	५. यह सङ्कीर्ण दशा होती है।
६. शरीर में इसका स्थान	६. यह सारे शरीर को क्षुब्ध

निर्दिष्ट हो सकता है।	कर डालती है।
७. इसका स्वरूप निश्चित होता है।	७. इसका स्वरूप अनिश्चित होता है।
८. यह क्षणिक होती है।	८. यह उदय और शमन में समय लेती है।

संवेदन और भाव का परस्पर सम्बन्ध

संवेदन और भाव में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। जब मेरे उदर में पीड़ा होती है तो मुझे यदि यह ख़्याल आजावे कि इस पीड़ा का कारण अमुक रोग है तो मेरे मन में भय का भाव उत्पन्न हो जाता है। वह भाव उस पीड़ा को बढ़ा देता है और बढ़ी हुई पीड़ा भाव को पुनः तीव्र बना देती है।

भाव-विकास का भाव पर प्रभाव

भाव-विकास भाव की वृद्धि में सहायक बनते हैं। एक भयभीत मनुष्य जब दौड़ना शुरू करता है तो उस का भय और भी बढ़ जाता है। परन्तु यदि किसी भाव के शारीरिक परिवर्तनों को रोक लिया जावे और उन को विकसित न होने दिया जावे तो वह भाव या तो बहुत निर्बल हो जावेगा या सर्वथा लुप्त हो जावेगा। इसी बात को सन्मुख रख कर बच्चों को प्रायः यह उपदेश दिया जाता है कि जब तुम्हें क्रोध आये तो बोलने से पूर्व दस तक गिनती कर लो। यह वास्तव में भाव विकास को रोकने का उपाय है।

विचार शक्ति पर भावों का प्रभाव

विचार शक्ति को भाव बहुत प्रभावित करते हैं। कभी कभी तीव्र भाव के उपस्थित होने पर कुछ समय के लिये विचार शक्ति सर्वथा शिथिल पड़ जाती है। कहा जाता है कि क्रोध में तथा लोभ और मोह में मनुष्य अन्धे हो जाते हैं। इस का तात्पर्य यही होता है कि इन भावों के आवेश में उन की बुद्धि अपना कार्य नहीं करती। एक क्रोधी को परितप्त अवस्था में देख कर प्रायः यह कहा जाता है कि तुम आपे से बाहिर हो। इस समय तुम्हारे साथ विचार करना व्यर्थ है। परन्तु मर्यादा के अन्दर अन्दर भाव की स्थिति विचार शक्ति को उत्तेजित भी कर देती है। एक वकील जिस को अपनी आसामी के निरपराधी होने में विश्वास है वह अपने अन्दर उस के लिये सहानुभूति रखता है। यह सहानुभूति का भाव न्यायालय में उस की वक्तृता को ओजस्विनी तथा विचार शैली को प्रभावशाली बना देता है। यह बात भी अनुभव सिद्ध है कि जिस प्रकार के भाव हमारे अन्दर जागृत होते हैं उन के द्वारा वैसे ही विचार भी उत्पन्न होते हैं। प्रसन्नता के भाव प्रसन्नता के विचारों को पैदा करते हैं। भय, ईर्ष्या, क्रोध आदि भाव भी अपने प्रकार के विचारों को उत्पन्न करते हैं। भावों के अतिरिक्त हमारे स्वार्थ तथा पक्षपात भी हमारी विचारशक्ति को प्रभावित करने के साधन बनते हैं। और उन का बाह्यस्वरूप मनुष्य के चेहरे और चेष्टाओं से प्रकट हो जाता है।

भावों की क्रमशः उन्नति का प्रश्न

यह भाव सम्बन्धी आलोचना में तीसरा प्रश्न है, विकासवादियों ने इस प्रश्न की विवेचना करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मानुषी भाव अन्ततः पाशविक भावों के ही रूपान्तर परिवर्तन हैं। विकासवादी मनुष्य की वंश परम्परा को पीछे की ओर निचले प्राणियों तक खेंच के ले जाता है। इसी लिये भावों की कल्पना का प्रारम्भ उन्हीं की जीवन स्थिति से करता है। हम यहां पर विकासवाद की कल्पना के उलझन में न पड़ के मनोविज्ञान की दृष्टि से भावों की क्रमशः उन्नति को देखना चाहते हैं। मनोविज्ञान भावों के सम्बन्ध में एक वैयक्तिक आत्मा के क्रमिक मानसिक जीवन के विकास को ही सन्मुख रखता है। वह यह दिखलाता है कि बाल्यावस्था में कौन २ से भाव किस २ समय में जागृत होते हैं तथा परिस्थिति और शिक्षा उन भावों को नियमित रूप देने में कितना और कब तक भाग लेती है मनोविज्ञान भावों की उत्पत्ति अधिकांश स्वाभाविक ही स्वीकार करता है। सब भावों के मूल अंश राग (feeling of attraction) तथा द्वेष (feeling of repulsion) मनुष्य की प्रकृति में स्थित मानता है। ज्यों २ मनुष्य का ज्ञान उन्नत होता है यह मूल अंश (जो २ संवेदनात्मक दशाएं हैं) विशेष २ परि स्थितिओं के ज्ञान के साथ मिश्रित हो कर अनेक प्रकार के

भावों में परिणत हो जाते हैं। एक व्यक्ति के मानसिक जीवन के विकास में स्थूल भावों की सत्ता पहिले प्रकट होती है क्योंकि इन की उत्पत्ति के लिये अन्य मानसिक शक्तियों के विकास की अधिक आवश्यकता नहीं होती। यही कारण है कि एक बच्चा प्रारम्भ से ही क्रोध, भय, प्रेम इत्यादि भावों को प्रकाशित करता है। सूक्ष्म भाव जैसे आचारिक, धार्मिक तथा अन्य मानसिक भाव बहुत देर के पश्चात बच्चे में पैदा होते हैं क्योंकि यह विशेष मानसिक शिक्षण तथा विचार शक्ति की अपेक्षा करते हैं। उदाहरणार्थः-मान, अपमान, तथा ललित कलाओं की प्रशंसा आदि के भाव छोटे बच्चों में नहीं पाए जाते। इसी प्रकार उत्तर दातृत्व का भाव तथा विद्यानुराग आदि के भाव भी छोटे बच्चों में प्रायः कम मिलते हैं। छोटे बच्चों में अनुकरण का भाव जितनी तीव्रता से प्रकट होता है उतना वह परिपक्व आयु के मनुष्य में नहीं पाया जाता। बाल-मनोविज्ञान के अध्ययन में भावों की क्रमशः उन्नति का विषय अच्छी तरह दर्शाया जाता है और वहीं इस का विस्तृत पाठ होना चाहिये।

भाव-विभाग

भावों के विभाग में अनेक अड़चनें उपस्थित होती हैं अतः जिन जिन मनोवैज्ञानिकों ने इन के विभाग करने का यत्न किया है उन्हें असफलता का ही मुंह देखना पड़ा है। उन अड़चनों में से कई एक यह हैं-

१–बहुत सारे भाव अत्यन्त सङ्कीर्ण दशाओं का रूप धारण करते हैं।

२–बहुत थोड़ भाव ऐसे हैं जिन का रूप निश्चित किया जा सकता है।

३–सब भाव परस्पर सम्बद्ध नज़र आते हैं उन का एक दूसरे में विलीन होना एक साधारण बात है।

४–कई भाव एक दूसरे के साथ मिश्रित रहते हैं तथा मनुष्य की आयु परिस्थिति और स्वभाव के अनुसार बदलते रहते हैं।

इन अड़चनों के होते हुए भी किसी न किसी रूप में भावों का विभाग वैज्ञानिक दृष्टि से आवश्यक सिद्ध होता है। अतः हम यहां पर उन के विकास-क्रम की दृष्टि से विभाग करना अभीष्ट समझते हैं।

१–स्वार्थ सूचक भाव विकास-क्रम की दृष्टि से हम यह देखते हैं कि प्रारम्भिक भाव अधिकांश स्वार्थ सूचक ही होते हैं। इन भावों का लक्ष्य आत्म-रक्षा अथवा जीवन वृद्धि ही होता है। वह व्यक्ति के अपने सुख, दुःख, इच्छा और सामान्य लाभ के साथ सम्बन्ध रखते हैं। उन भावों की गिनती में भय, क्रोध, द्वेष कर्मशीलता का प्रेम, प्रतिद्वन्द्वता, आत्म प्रतिष्ठा इत्यादि।

२—परार्थ सूचक भाव यह भाव समाज रक्षा को अपना लक्ष्य बनाते हैं इन का प्रकाश अपने से अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों के प्रति होता है। यह पर-हित साधन की चेष्टा में प्रकट होते हैं। ज्यों ज्यों यह भाव एक बच्चे में विकसित होते चले जाते हैं त्यों त्यों वह स्वार्थपरता को छोड़ परोपकार में प्रवृत्त हो जाता है। परार्थ सूचक भावों में मुख्य प्रेम, सन्मान (आदर सत्कार) तथा सहानुभूति हैं।

३—ज्ञानात्मक भाव जैसे विद्या का अनुराग, सत्य का प्रेम।

४—सौन्दर्यात्मकभाव जैसे सौन्दर्य अनुराग।

५—नैतिक भाव जैसे कर्तव्य परायणता, धार्मिक जीवन का आदर तथा अन्तः करण का सन्मान।

अब हम इन पांचों प्रकारों के भावों का संक्षेप से वर्णन करेंगे। प्रत्येक भाव के विवरण में इन बातों का उल्लेख होना चाहिये।

(क) भाव के कारण का स्वरूप अथवा परिस्थित का परिज्ञान जिसके अन्दर उस भाव की उत्पत्ति होती है।

(ख) प्रारम्भिक संवेदनात्मक (दुःखात्मक वा सुखात्मक) दशा।

(ग) वाह्य चेष्टाओं की ओर प्रेरणा।

(घ) शारीरिक विकास अथवा बाह्य तथा आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन।

(ङ) भाव के रूपान्तर, जो मानसिक जीवन के क्रमशः विकास के साथ जागृत होते हैं।

स्वार्थ सूचक भावः—

भयः—यह भाव समस्त प्राणियों में उनके मानसिक जीवन के विकास के अनुसार प्रकाशित होता रहता है। यह स्वभाविक प्रतीत होता है। मनुष्य के जीवन के हर काल में किसी न किसी रूप में इस की विद्यमानता रहती है। भय का भाव सर्वांश में दुःखात्मक होता है। यह भावी आपत्ति का सूचक होता है।

शारीरिक विकासः—भय का भाव इन शारीरिक परिवर्तनों में प्रकाशित होता है। प्राण-शक्ति शिथिल पड़ जाती है। विचार शक्ति मन्द होने लगती है। ध्यान शक्ति गड़बड़ा जाती है। भाव के तीव्र होने पर शरीर में कम्पकम्पी शुरू हो जाती है, मुंह सूखने लग जाता है, घुटने बजने लग जाते हैं। ठंडा पसीना फूटने लगता है, कभी कभी भय का आवेश बढ़ जाने पर मनुष्य पत्थर की तरह शून्य दीखने लगता है।

कायरता का भाव भय के भाव से ही उत्पन्न होता है।

क्रोधः—यह भाव वैयक्तिक हानि के बोध होने पर उत्पन्न होता है। भय के समान यह भी स्वाभाविक प्रतीत होता है इस

में दुःख तथा सुख दोनों के भाव सम्मिलित रहते हैं। अपनी हानि के चिन्तन से दुःख पैदा होता है परन्तु हानि के कारण को दूर करने की चेष्टा सुखोत्पादक होती है। यह भाव हमारी कर्म-प्रवृत्ति को उत्तेजना देता है।

शारीरिक विकास— इस भाव की उपस्थिति पर मनुष्य में वे सब चेष्टाएं प्रकट होने लगती हैं जिन से वह अपने शत्रु को हानि पहुंचा सकता है। शरीर में रक्त का सञ्चलन अधिक होने लगता है, विशेष कर के मस्तिष्क की ओर रक्त का सञ्चार बढ़ जाता है, आंखें लाल हो जाती हैं, भौंवें चढ़ जाती हैं। हृदय का धड़कना बढ़ जाता है। मुष्टि-प्रहार की ओर प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, नासिकाएं फड़कने लग जाती हैं, आवाज़ बैठने लगती है, जब क्रोध बहुत तीव्र होता है तो कई लोक उस के आवेश से पीले पड़ जाते हैं उस अवस्था में दिल की क्रिया रुकने लग जाती है।

क्रोध के रूपान्तर। तात्कालिक क्रोध जिस का बाह्य प्रकाश तुरन्त होने लगता है जितना इस का उदय शीघ्रता-पूर्वक होता है उतना ही उस का शमन भी शीघ्रता-पूर्वक होता है।

सविवेक क्रोध—इस में क्रोध का आवेश एक वारगी अपने आप को प्रकाशित नहीं करता। परन्तु विचार पूर्वक अपनी शत्रु की हानि के निमित्त धीरे धीरे प्रकट होता है।

वैरभाव, शत्रु से बदला लेने की निरन्तर इच्छा वैरभाव में प्रकट होती है इस में भी हमारी विचार शक्ति बदला लेने के साधनों को ढूंढने में हमारी सहायता करती है यह भाव संसर्ग से फैलता है। कभी २ सारी समाज या जाति में व्याप्त हो जाता है। जैसे यूरोप की जातियों में इस समय देखा जाता है।

द्वेष, जब क्रोध हमारे अन्दर दृढ़ स्थिति पा लेता है तब द्वेष तथा घृणा में प्रकट होता है। जब एक मनुष्य अपने शत्रुकी हानि में तथा उस की आपत्ति में प्रसन्नता ढूंढता है तो यही भाव नीच प्रकृति के रूप में प्रकट होता है।

नोट, विद्यार्थियों को इसी प्रकार अन्य स्वार्थ सूचक भावों की विवेचना करनी चाहिये।

परार्थ सूचक भाव

प्रेम, यह भाव समाज स्थिति के लिये आवश्यक होने के कारण सामाजिक भाव कहलाता है। अपने अनेक स्वरूपों में प्रकाशित होकर सामाजिक जीवन के संगठन में एक भारी शक्ति का काम करता है। स्वार्थ सूचक भावों के समान जिन का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह भाव भी मनुष्य में स्वाभाविक स्थिति रखता है। मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है और

प्रेम भाव उसी का बाह्य फल है। बेन महाशय प्रेमभाव की उत्पत्ति का विचार करते हुए स्पर्श तथा आलिङ्गन के सुख को उस का आदि तथा अन्तिम स्रोत मानते हैं। प्रेमभाव की उत्पत्ति के कई कारण वर्णन किये जा सकते हैं। बच्चे की सामर्थ्य हीनता मातृप्रेम को उत्तेजित करती है। दुःखियों के दुःख का अनुभव दया भाव को उत्तेजित करता है जो पुनः प्रेम में परिणत हो जाता है। प्रेम का स्वच्छ स्वरूप मैत्री में प्रकट होता है तथा भ्रातृभाव का रूप धारण करता है।

आदर तथा सन्मान, यह भाव श्रेष्ठता के प्रति प्रकट होते हैं इन भावों के प्रकाश के लिये विशेष मानसिक उन्नति अपेक्षित होती है। आदर या सन्मान के भावों का उच्चतम प्रकाश मानुषी चारित्र की श्रेष्ठता के प्रति होता है भक्ति इन्हीं भावों की पराकाष्ठा का नाम है, जो मनुष्य तथा परमात्मा दोनों के प्रति प्रकट होती है।

सहानुभूति, सहानुभूति के अंश बाल्यावस्था से ही मनुष्य के जीवन में प्रकट होने लगते हैं यह भाव भी स्वाभाविक ही प्रतीत होते हैं। बच्चा मां को दुःखी देख कर शोक के चिन्ह प्रकट करने लग जाता है। परन्तु सहानुभूति के भावों को स्वच्छ प्रकाश के लिये कल्पना शक्ति

की आवश्यकता होती है। जब तक हम अपने आप को दूसरों की अवस्था में पड़ा हुआ कल्पना नहीं कर सकते तब तक सहानुभूति प्रकट करना असम्भव होता है। इस से सिद्ध होता है कि सहानुभूति का भाव वस्तुतः स्वार्थ सूचक का रूपान्तर है। दूसरों की अवस्था में अपने आप को चिन्तत करने की शक्ति के द्वारा ही दया और दान के भाव प्रकाशित होते हैं। यह भाव सभ्य समाज की उन्नति का एक बड़ा साधन हैं। सभ्यता का भव्य भवन सहानुभूति के चूने और गारे से ही निर्माण किया जाता है। जितने परोपकार के कार्य हमें चारों ओर दीखते हैं उन की तह में सहानुभूति का भाव ही कार्य करता हुआ नज़र आता है, इस भाव को अपने अन्दर उन्नत करना हम सब का परम कतर्व्य है। इस भाव को उन्नत करने के लिये यह आवश्यक है कि हम दूसरों की आवश्यकताओं की ओर ध्यान दें और उन का पूरा होना उन के जीवन के लिये आवश्यक समझें तथा उन की अपूर्ति से जो उन्हें दुःख अथवा हानि हो सकती है उस का स्वयं चिन्तन करें और अपने पर घटा कर देखें अन्ततः क्रियात्मिक रूप में उन आवश्यकताओं के पूरा करने में योग दें।

ज्ञानात्मक भाव।

यह भाव स्वार्थ तथा परार्थ सूचक भावों के समान मूर्त पदार्थों की ओर प्रकट नहीं होते। इन भावों में हम मूर्त पदार्थों की सीमा से उठ कर अमूर्त विचारों के क्षेत्र में भ्रमण करते हैं इसी लिये इन भावों की सत्ता की आशा हम बाल्यावस्था में नहीं कर सकते। इन की सत्ता के लिये पर्याप्त शिक्षा तथा मानसिक जीवन के विकास की विशेष अवधि अपेक्षित रहती है। ज्ञानात्मक भाव मनुष्य में कौतुक से प्रारम्भ होते हैं कौतुक जिज्ञासा को उत्पन्न करता है यही जिज्ञासा अपने उन्नत स्वरूप में विद्या तथा सत्य के अनुराग में प्रकट होती है। ज्ञान को ज्ञान की ख़ातिर प्राप्त करना इस भाव का उच्चतम लक्ष्य होता है। ज्ञानात्मक भाव लक्ष्य की प्राप्ति पर सुख दायक सिद्ध होते हैं। लक्ष्य के चिन्तन में भी सुख देने वाले होते हैं। एक गणितज्ञ जो किसी विशेष प्रश्न के हल करने में लगा हुआ है एक वैज्ञानिक जो किसी खोजना में व्याकुल हो रहा है। दोनों अपने लक्ष्य की पूर्ति की कल्पना करके प्रसन्न होते हैं। यह भाव स्थूल रूप में प्रकट नहीं होते इन का प्रभाव मनुष्य के शरीर में तीव्र और विस्तृत आवेश में प्रकाशित नहीं होता साहित्य का आन्दोलन तथा दर्शन और विज्ञान का निःस्वार्थ अध्ययन ज्ञानात्मक भावों को उत्पन्न करता है।

सौन्दर्य्यात्मक भाव ।

यह भाव सुन्दर पदार्थों के चिन्तन द्वारा उत्पन्न होते हैं। इन के अन्तर्गत शोभा, सौन्दर्य, शान, सम्मता, विशालता, आदर्श, इत्यादि भाव सम्मिलित रहते हैं । सौन्दर्य्य सम्बन्धी भाव प्रायः श्रोत्र तथा चक्षु इन्द्रिय के प्रयोग द्वारा अधिकांश प्राप्त होते हैं। अन्य इन्द्रियों का समावेश इन की प्राप्ति में कम होता है इस में एक रहस्य है जिस की ओर ध्यान देना चाहिये । श्रोत्र और चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियां विषयों के प्रति स्वार्थपरता दिखलाती हैं । वे उन के ग्रहण करने में तृप्ति ढूंढती हैं परन्तु सौन्दर्य्य भाव की पहिली विशेषता उस के निस्वार्थ रूप से प्रकट होती है । सौन्दर्य सुख प्रद होता है, उस के अनुभव करने वाला उसी सुख में अपनी तृप्ति ढूंढता है न कि सौन्दर्य की प्राप्ति में। सौन्दर्य भाव की दूसरी विशेषता यह है कि वे किसी उद्देश्य अथवा प्रयोजन की सिद्धि को सन्मुख नहीं रखते । सुन्दर पदार्थ का सौन्दर्य अब और अभी अपने चारों ओर आकर्षण रखता है और सुख का प्रसार करता है । वह किसी भावी प्रयोजन सिद्धि की सूचना नहीं देता । सौन्दर्य का प्रिय अपने आप को उस के चिन्तन में विलीन कर देता है। सौन्दर्य के सन्मुख मनुष्य की आत्मा निष्क्रिय हो जाती है । और वह अपने अन्दर सुख की एक धारा को प्रवाहित रूप में देखता है । सौन्दर्य भाव की तीसरी विशे-

षता यह है कि इस का प्रभाव विश्व-व्यापी होता है, न्यूनाधिक सब को इस का अनुभव होता है। बच्चे उज्वल चीज़ों को देख कर प्रसन्न होते हैं। असभ्य तथा अर्द्धसभ्य जातियों में अनेक प्रकार के शृङ्गार रस की विद्यमानता इन्हीं भावों की सूचक होती है। वर्तमान सभ्यता में सौन्दर्य का अनुराग अधिक उन्नत रूप में प्रकट हो रहा है जिस के उदाहरण ललित कलाओं की उन्नति चित्रकारी तथा सङ्गति आदि के रूप में स्पष्ट विदित हैं।

सौन्दर्य भाव का विश्लेषण

जब हम सौन्दर्य के भाव का विश्लेषण करते हैं तो हम इसमें तीन अंश विद्यमान पाते हैं पहिला अंश इन्द्रिय-संवेदन (Sense feeling) का है। श्रोत्र अथवा चक्षु द्वारा हम सुन्दर पदार्थ से प्रभावित होते हैं जैसे कि एक सुन्दर दृश्य के देखने तथा एक सुन्दर गीत के सुनने से यह संवेदन तुरन्त सुखोत्पादक बनता है। बच्चों को प्राय यह इन्द्रिय संवेदन जितना अधिक तीव्र होता है उतना ही अधिक प्रसन्न करता है। यही कारण है कि बच्चों और अपठित मनुष्यों को उज्वल रङ्ग तथा तीव्र शब्द अधिक आकर्षित करता है, सौन्दर्य का उनकी दृष्टि में इससे अधिक मूल्य नहीं होता। वह पदार्थों की रचना में समता तथा एकत्व जो सौन्दर्य भाव के बाह्य कारण हैं नहीं देख सकते। दूसरा अंश सौन्दर्य भाव में ज्ञान का अंश रहता है जब तक एक

व्यक्ति की विचार शक्ति विशेष सीमा तक उन्नत न हो चुकी हो तब तक उस को बाह्य प्राकृतिक जगत का सौन्दर्य पूरे तौर पर प्राप्त नहीं होता। एक शिक्षित यात्री जितना आनन्द अपनी यात्रा सम्बन्धी दृश्यों के अवलोकन द्वारा उठाता है उतना आनन्द एक अशिक्षित को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। तीसरा अंश कल्पना का समझना चाहिये। भिन्न २ स्थानों के सौन्दर्य अवलोकन के लिये यह आवश्यक है कि हम उन स्थानों की सहचारी घटनाओं को कल्पना में ला सकें। बनारस के निकटवर्ती सारनाथ के दृश्य का सौन्दर्य वे ही लोक अनुभव कर सकते हैं जो उन अवस्थाओं को अपनी कल्पना में ला सकते हैं जिन में सारनाथ के भव्य भवनों की रचना हुई थी।

उपरोक्त विचार यह प्रकट करता है कि सौन्दर्य निर्णय के लिये शिक्षा अपेक्षित है अतः जिन पदार्थों को एक समय लोक मत के अनुसार सुन्दर कहा जाता है वही पदार्थ दूसरे समय में अवस्थाओं के बदल जाने पर सौन्दर्य हीन नज़र आने लगता है, इस बात का उज्वल प्रमाण भिन्न २ जातियों की चित्रकारी तथा अन्य ललित कलाएं हैं जिनके आदर्श मनुष्य की परिवर्तनशील रुच्यनुसार कालान्तर में बदलते गए हैं। वर्तमान समय में भी हम यही देखते

सौन्दर्य निर्णय में परिवर्तन

हैं कि जिस पहिरावे को एक देश के लोक सुन्दर समझते हैं वही पहिरावा दूसरे देश निवासियों के लिये हंसी का साधन बनता है। इतने परिवर्तनों के होने पर भी हम इतना तो विश्वास पूर्वक कह सकते हैं कि सौन्दर्य विवेचन के लिये सभ्य तथा शिक्षित मनुष्यों की रुचि ही अपेक्षित रहती है।

विशालता का भाव

सौन्दर्य-भाव के अन्तर्गत ही विशालता का भाव तथा हास्य भाव लाया जाता है। विशालता के भाव की उत्पत्ति एक महत्त्व पूर्ण पदार्थ के अवलोकन से होती है। वह महत्व अथवा गौरव शारीरिक तथा आचारिक दोनों प्रकार का हो सकता है उस महत्व के अवलोकन पर हम यह अनुभव करते हैं कि वह अपने असीमत्व के कारण हमारे लिये अग्राह्य है हमारी पहुंच से बाहिर है। जब हम समुद्र के किनारे पर खड़े होते हैं और उस के अनन्त विस्तार का दर्शन करते हैं अथवा जब हम एक महान पर्वत के दामन में खड़े हो कर उस की ओर शिर उठाकर देखते हैं तो हमारे अन्दर विशालता का भाव उत्पन्न होता है यही भाव हम उस समय अनुभव करते हैं जब कि रात्रि को तारों भरे आकाश का चिन्तन करते हैं। इस भाव की प्राप्ति पर हम अपने अन्दर प्रशंसा तथा मिश्रित भय और आदर का भाव पाते हैं। हमारी आत्मा एक विशाल पदार्थ के सन्मुख अपनी क्षुद्रता का अनुभव करती है। परन्तु

उस में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न होता है और विशाल पदार्थ की ओर आकर्षण प्रकट होता है।

हास्य भाव हमारे अन्दर मिश्रित भय और आदर के स्थान में एक प्रकार की प्रसन्नता अथवा हंसी उत्पन्न करता है। हास्य भाव दो प्रकार से प्रकट किया है एक उपहास के रूप में, जिस में जिस मनुष्य के कारण हंसी उत्पन्न की जाती है उस को क्षुद्र प्रकट करने की चेष्टा की जाती है। और हंसी करने वाले का बुद्धि-चातुर्य टपकता है। दूसरे साधारण हंसी मखौल के रूप में। जिस में विषय की असङ्गत आकृति अथवा विलक्षण विषमता की ओर निर्देश करके हंसी प्रकट की जाती है उपहास के समान इस में तीक्ष्णता नहीं रहती। अपि तु उस के स्थान में एक प्रकार के स्नेह का अंश विस्फुटित होता है।

नैतिक भाव

नैतिक भावों में यद्यपि पूर्वोक्त भाव भी सम्मिलित रहते हैं तथापि इन को पृथक् स्वतन्त्र भाव माना गया है। इन भावों के अन्तर्गत नैतिक कृतज्ञता, उत्तरदातृत्व, कर्तव्यपरायणता, पुण्य, पाप, पश्चात्ताप, आत्म-ग्लानि इत्यादि भाव रहते हैं। नैतिकभावों का विषय जड़ पदार्थ नहीं होते वे केवल मानुषी चरित्र के सम्बन्ध में उठते हैं। मनुष्य के कर्म ही नैतिकनिर्धारणा का विषय बनते हैं। भूचाल चाहे बस्तियों की बस्तियां उजाड़ दे, जल की बाहड़ चाहे अनेक आत्माओं का घात

करदे, परन्तु उन के कार्यों का हम आचारिक दृष्टि से निर्णय नहीं करते। आचारनिर्णय में या तो मैं अपने कर्मों को सन्मुख रखता हूं या अन्य व्यक्तियों के। आचारिक निर्णय कैसे होता है इस प्रश्न का विस्तार पूर्वक आन्दोलन आचार-शास्त्र का कार्य है। यहां पर हमें केवल इतना ही निर्देश करना है कि आचारिक निर्णय में तव्यत् अथवा कर्तव्य भाव प्रधान रहता है। हमें क्या करना चाहिये अथवा हमारे लिये क्या ईप्सित है इन्हीं की दृष्टि से हम कर्मों का निर्णय करते है। अन्य सब भावों से मानवी चरित्र के साथ अधिक घनिष्ट सम्बन्ध नैतिक भावों का ही दीखता है अतः अध्यापक वर्ग को अपने शिष्यों में इन भावों के जागृत करने की ओर विशेष ध्यान देना उचित प्रतीत होता है।

आचारिक निर्णय मनुष्य के स्वतन्त्र चुनाव का बोधक है। यदि मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र स्वीकार न किया जावे तो मनुष्य के कर्मों की स्थिति जड़ जगत में होने वाली घटनाओं से अधिक मूल्य न रखेगी। मानवी चरित्र का गौरव घट जाएगा तथा उस के साथ उत्तर दातृत्व, पुण्य, पाप, यश, अपयश, आदि विशेषणों का संयोग नहीं कर सकते। नैतिक भावों के सम्बन्ध में एक और बात भी देखने में आती है और वह यह है कि परिस्थिति और शिक्षा के प्रभाव के कारण इन में समय समय पर परिवर्तन आते रहते हैं। परन्तु यह सब

परिवर्तन इस बात की सूचना अवश्य देते हैं कि नैतिक भाव किसी अन्तिम लक्ष्य की ओर मानव जाति को ले जा रहे हैं। जो लक्ष्य धीरे धीरे विकसित हो रहा है।

नैतिक भावों का अन्तिम स्रोत क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में भी कई कल्पनाएं घड़ी गई हैं, कई लोक कहते हैं कि यह भाव मनुष्य के स्वाभाविक स्वार्थ का फल है। आदि सृष्टि में मनुष्य अपनी असभ्य अवस्था में थे। परस्पर लड़ना झगड़ना एक दूसरे को हानि पहुंचाना यह उन की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी परन्तु अनुभव ने उन को यह सिखलाया कि मिल जुल के रहना, संङ्घ-निर्माण करना, परस्पर सहायता करना, यह अच्छी बातें हैं इन की स्वीकृति पर उन के अन्दर कर्तव्य भाव उत्पन्न हो गये जो क्रमशः उन्नत होकर वर्तमान नैतिक नियमों में प्रकट हो रहे हैं यह विकास वादियों का मत है। विपरीत इस के धर्मवादी यह स्वीकार करते हैं कि नैतिक भाव ईश्वरदत्त हैं। परमात्मा ने सब के अन्दर अन्तः करण (Conscience) की स्थापना की है जो नैतिक भावों का प्रतिपादन तथा समर्थन करता है और सत्यासत्य कर्मों का निर्णय करता है। कई अन्य लोक इन भावों को सदा से मनुष्य में प्रकृतिनिष्ठ (स्वाभाविक) मानते हैं।

भावों के प्रभाव

मनुष्य चरित्र भावों द्वारा ही निर्मित होता है। भाव मनुष्य के जीवन में एक बड़ी शक्ति का स्थान रखते हैं। इनका संगठन ही मनुष्य के लिये परम सुखोत्पादक होता है अतः अच्छे और बुरे भावों का भेद करना तथा चरित्र निर्माण में उन को यथोचित स्थान देना हमारे लिये परम आवश्यक है। हर समय हम अपने अन्दर भावों का संग्राम देखते हैं। हमारे अच्छे बुरे कर्मों के कारण यही भाव ही होते हैं अतः उन के निरन्तर संयमन की ओर ध्यान होना चाहिये। हमारा स्वास्थ, हमारी प्रसन्नता, हमारा जीवन-विजय उत्तम भावों की स्थिति पर ही अवलम्बित रहते हैं।

पन्द्रहवां अध्याय

कृतिशक्ति (प्रयत्न)

आत्मा की सत्ता का तीसरा बाह्य प्रकाश कृति-शक्ति अथवा प्रयत्न द्वारा होता है । प्रथमतः हमें इस बात की विवेचना करने की आवश्यकता है कि कृतिशक्ति का कार्य ज्ञान तथा भावशक्ति के कार्यों से किस अंश में भिन्न होता है। शीतकाल में एक व्यक्ति शीत से पीड़ित होकर अग्नि के पास जा बैठता है। इस साधारण घटना का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि शीत उसके मन में दुःख का भाव उत्पन्न करता है। वह व्यक्ति अपने दुःख का ज्ञान प्राप्त करता है। पुनः वह अग्नि को देखता है। अग्नि से शीत-निवृत्ति होती है। इस बात का ज्ञान भी पहिले से उस में है। यह ज्ञान उस के अन्दर शीत-निवृत्ति की इच्छा (भाव) पैदा करता है। वह इच्छा उस को क्रिया की ओर प्रवृत्त करती है और वह अग्नि के समीप जा बैठता है। (ज्ञान जन्या भवेदिच्छा, इच्छा जन्या भवेत्कृतिः) ज्ञान और कृति के अन्तर्गत इच्छा की स्थिति आवश्यक होती है।

कृति शक्ति

हमारी क्रियाएं दो प्रकार की होती हैं। ऐच्छिक तथा अनैच्छिक। अनैच्छिक क्रियाओं को स्वाभाविक क्रियाएं भी कह देते हैं। इन पर कृतिशक्ति का स्वामित्व नहीं

क्रियाओं के दो प्रकार

होता और ना ही उन की उत्पत्ति में ज्ञान भाग लेता है। यह स्वाभाविक क्रियाएं बच्चों के प्रारम्भिक जीवन में अधिकांश देखने में आती हैं। इन क्रियाओं का आधार प्राणयोनि संस्थान माना जाता है। कृतिजन्य क्रियाएं भी अन्ततः बच्चों की मूल प्रवृत्ति अथवा स्वाभाविक क्रियाओं का ही क्रमशः विकास समझनी चाहियें।

कृति और ज्ञान

कृति और ज्ञान इन दो मानसिक व्यापारों का भेद एक सरल उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लो कि तुम दत्तचित्त हो कर अपनी पुस्तक के पढ़ने में निमग्न हो और तुम्हें चारों ओर की सुध बुध नहीं। अकस्मात् एक व्यक्ति तुम्हारे समीप आ कर चिल्ला कर कहता है "शेर आया" तत्काल तुम कूद उठते हो, और चौकन्ने हो जाते हो। क्या यह तुम्हारी क्रिया कृति (प्रयत्न) का फल हैं? नहीं यदि तुम्हारी कृति कार्य कर रही होती तो तुम इतने घबरा कर चौकन्ने न होते। तुम्हारी क्रिया वास्तव में आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति का फल थी। परन्तु जब तुम अन्धेरी रात्रि में कहीं से खटका सुनो तो चारों ओर ध्यान पूर्वक उस खटके के कारण को ज्ञात करने का प्रयत्न करते हो यह क्रियाएं कृतिजन्य कही जा सकती हैं।

कृति और संवेदन

इन का भेद भी एक सरल उदाहरण द्वारा ही प्रकाशित हो सकता है। यदि मुझे कोई यह सूचना देता है कि जर्मन देश का अमुक योद्धा मर गया है, तो मैं अपने अन्दर एक साधारण वेदना का अनुभव करता हूं, और किसी कद्र शोकातुर हो जाता हूं। परन्तु जब कोई मुझे आ कर यह कहता है कि तुम्हारे साथ का मकान प्रचण्ड अग्नि द्वारा दग्ध हो रहा है तो मैं दौड़ कर उस मकान के अन्तःपुर वासियों के बचाने का पूरा प्रयत्न करता हूं तथा उस गृहपति को हानि पहुंचने पर यथाशक्ति सहायता देने पर उद्यत हो जाता हूं। इस दूसरी अवस्था में संवेदन के साथ २ कृतिशक्ति का पूरा २ प्रकाश हो रहा है।

कृति का स्वरूप तथा उस का महत्व

कृति मानसिक जीवन में उस शक्ति की बोधक होती है जो ज्ञान तथा भाव सम्बन्धी व्यापारों को क्रिया रूप में परिणत करती है। मानसिक जीवन की यह मूल शक्ति है। मनुष्य का वैयक्तिक आचरण तथा सामाजिक और राजनैतिक कृत्य सब इसी शक्ति पर अवलम्बित रहते हैं। सभ्यता का वाह्य विकास तथा वैज्ञानिक उन्नति का विस्तृत पसार सब इसी शक्ति का फल स्वरूप हैं। एक मनुष्य की बुद्धि अथवा विचार शक्ति कितनी ही उन्नत क्यों न हो, उस के भाव सर्वशः समुन्नत क्यों

न हों परन्तु जब तक वे कृति शक्ति द्वारा कार्य रूप में परिणत (प्रकाशित) नहीं होते तब तक वह मनुष्य अपने लिये तथा अन्यों के लिये विशेष रूप से सफल मनोरथ नहीं हो सकता, अतः कृति शक्ति का विकास तथा उस का उन्नति क्रम समझना हम सब के लिये अत्यावश्यक है।

कृतिशक्ति का विकास तथा उन्नतिक्रम

कृतिशक्ति का परिचय हम को प्रथमतः अपनी क्रियाओं द्वारा ही प्राप्त होता है परन्तु हम ऊपर इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि क्रियायें दो प्रकार की होती हैं ऐच्छिक और अनैच्छिक। ऐच्छिक क्रियाओं के विकास से पूर्व हम बच्चों में अनैच्छिक क्रियाओं का प्रादुर्भाव पाते हैं। अनैच्छिक क्रियाओं के अन्तर्गत अन्ध प्रेरणा, निष्प्रयोजन चेष्टाएं तथा स्वाभाविक प्रवृत्तियां रहती हैं। इन सब क्रियाओं का आविर्भाव बच्चे की उत्पत्ति काल के अनन्तर ही प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन की ओर प्रेरणा उस को पैतृक संस्कारों द्वारा प्राप्त होती है। ज्यों ज्यों बच्चे के अनुभव में वृद्धि होती है त्यों त्यों उस के अन्दर इन उपरोक्त अनैच्छिक क्रियाओं का स्थान क्रमशः ऐच्छिक क्रियाएं लेने लगती हैं। उत्पत्ति काल के अनन्तर जब हम एक बच्चे का निरीक्षण करते हैं तो वह हाथ पव इधर उधर अकारण मारता है। इन्हीं को हम निष्प्रयोजन क्रियाएं कहते हैं परन्तु इन्हीं के अन्तर्गत हमें कृति

के अङ्कुर भी मिलते हैं। बच्चा जिन क्रियाओं को सुखप्रद समझता है उन्हें दुःखप्रद क्रियाओं की अपेक्षा अधिक व्यवहार में लाता है। इन्हीं निष्प्रयोजन क्रियाओं के साथ २ बच्चे के जीवन में हमें कई ऐसी क्रियाओं की सत्ता का बोध होता है जिन को हम स्वाभाविक प्रवृत्तियों (Instincts) के नाम से पुकारते हैं।

स्वाभाविक प्रवृत्ति

स्वाभाविक प्रवृत्ति मन की उस शक्ति का नाम है जो ऐसी शारीरिक चेष्टाओं या क्रियाओं को पैदा करती है जो न प्रयोजन की दृष्टि से प्रेरित होती हैं और ना ही पूर्व शिक्षा का परिणाम होती हैं। निष्प्रयोजन क्रिया और स्वाभाविक प्रवृत्ति में यह भेद होता है कि स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रयोजनात्मक क्रियाओं को उत्पन्न करती है यद्यपि प्रयोजन की दृष्टि से उन क्रियाओं को प्रेरणा नहीं होती। स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्प्रयोजन क्रियाओं के समान सर्वथा ज्ञान के अंश से शून्य नहीं होती। यद्यपि विचार क्रिया का उस में समावेश नहीं दीखता तथापि इच्छा का अप्रकट स्वरूप उस में अवश्य मिलता है। बच्चे में अपनी माता के स्तनों को चूसने की प्रवृत्ति अथवा माता में अपने बच्चे के चुम्बन की प्रवृत्ति, भय के समय हृदय का धड़कना, तथा पक्षी का अपना घोंसला बनाना इत्यादिक ये स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों का स्रोत तन्तु-संस्थान है। उस में प्रवृत्तियां संस्कार रूप से सञ्चित रहती हैं।

वे संस्कार यथा अवसर किसी न किसी उद्भावक के उपस्थित होने पर प्रवृत्तियों का जागरण करते हैं।

पक्षी की स्वाभाविक प्रवृत्ति

जंगल में भ्रमण करते समय हम वृक्षों पर पक्षियों के घोंसलों की रचना देख कर चकित रह जाते हैं। वहां पर मनुष्य जैसी कारीगरी देख कर हम तुरन्त यह अनुमान करने लग जाते हैं कि घोंसले की रचना में मनुष्य सदृश्य बुद्धि का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह अनुमान शीघ्रता का फल है कोई प्रत्यक्ष साक्षी इस के आधार पर नहीं मिलती। यदि हम इस घोंसले को तोड़ फोड़ दें तो पक्षी बेचारा पुनः उस का निर्माण करने लग जायगा और ठीक उसी क्रम से वह दूसरी बार घोंसले की रचना करेगा जिस प्रकार पहिले कर चुका था। घोंसले की रचना में प्रयोजन सिद्धि अवश्य दीखती है परन्तु इस के बनाने में विचार-शक्ति का व्यय नहीं दीखता। यह रचना पक्षी की स्वाभाविक प्रवृत्ति का फल है। प्रकृति देवी ने पशु पक्षियों तथा मनुष्य को अपनी जीवन स्थिति को बनाये रखने के लिये कई एक प्रवृत्तियों से विभूषित कर रक्खा है। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिये इन प्रवृत्तियों का विस्तृत अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु स्थानाभाव के कारण हम यहां पर इन का विस्तृत उल्लेख नहीं कर सकते। केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रवृत्ति Nature

ने पशु पक्षियों के अन्दर विचार शक्ति के स्थान में केवल प्रवृत्तियों को ही प्रदान किया है। इन्हीं के द्वारा उन का जीवन कार्य चलता है। पक्षी अपने घोंसले बनाते है क्यों कि उन को अपनी प्रवृत्ति इस ओर ले जाती है। इस के लिये उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार का व्यवहार एक घोंसले की रचना के लिये आवश्यक है वह एक पक्षी को पूर्व से ही मिल चुका है। उस का स्वभाव उस के व्यवहार का एकमात्र कारण है। विचार क्रिया जिस में प्रयोजन अथवा लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान तथा तदर्थ साधनों के प्रयोग की चेष्टा पाई जाती है यह केवल मनुष्य के भाग्य में ही आई है।

स्वाभाविक प्रवृति और स्मृति

यह प्रश्न भी प्रायः पूछा जाता है कि स्वाभाविक प्रवृति में स्मृति का अंश रहता है अथवा नहीं। जब बालक प्रथम वार अपनी माता का स्तन मुंह में पकड़ता है तो क्या उस में प्रथम अनुभव के पीछे उस की स्मृति उस को पुनः स्तन पकड़ने की ओर प्रेरणा करती है? उतर में यही कहा जा सकता है कि स्वाभाविक प्रवृति स्मृति का आश्रय नहीं लेती। उस की रचना तथा क्रिया स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि बालक पुनः स्तन को मुंह में लेते समय पूर्व अनुभव से वंचित है तथापि उस अनुभव की स्मृति नयी प्रेरणा में कोई भाग

नहीं लेती। नई प्रेरणा भी वैसी ही स्वमूलक है जैसी प्रथम प्रेरणा। स्वमूलकता स्वाभाविक प्रवृति का सार रूप है। यह बात एक और उदाहरण से स्पष्ट की जा सकती है। एक माता अपने नन्हें बालक को एक कमरे में अकेला सोता हुआ छोड़ कर स्वयं दूसरे कमरे में बैठी है। थोड़ा सा खटका भी उस को तुरन्त सचेत कर देता है और वह दौड़ी हुई बालक के कमरे में जाती है। वहां पर बालक को सुरक्षित सोता देख पुनः अपने कार्य्य में व्यग्र हो जाती है। दुबारा खटका सुनती है। दुबारा दौड़ कर अपने प्रिय बालक की सुध लेने चली जाती है। मातृ स्नेह की प्रवृति उसे बाधित करती है कि तुरन्त प्रति क्रिया द्वारा उस स्नेह का प्रकाशन करे। उस को यह विचार नहीं रोकता कि पूर्वावस्था में उस ने बच्चे को सुरक्षित पाया है। दूसरी बार खटका सुनने पर वह वैसे ही सावधान हुई है जैसे कि पहिली बार। खटका सुनने पर मातृ स्नेह ने उस को तुरन्त सचेत कर दिया कि बच्चे को उस के ध्यान की आवश्यकता है और उसी समय उस की सारी शारीरिक रचना उस उद्भावक का उत्तर देने में लग जाती है। स्मृति या विचार वहां पर स्थगित हो जाते हैं।

मानुषी प्रवृतियां

प्रायः स्वाभाविक प्रवृति का चिन्तन करते समय हमें मनुष्य से इतर प्राणियों का ही ध्यान रहता है। परन्तु उस का यह तात्पर्य्य न समझना चाहिये

कि मनुष्य प्रवृति-शून्य होते हैं। क्या मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक प्रवृतियां प्रकट करता है या उस की प्रवृतियां शिक्षा द्वारा परिमार्जित हो कर अपना स्वरूप खो बैठती हैं? प्रो० जेम्स कहते हैं कि मनुष्य अन्य सब दूध पिलाने वाले प्राणियों से अधिक प्रवृतियां प्रकट करता है।

प्रश्न — बच्चों की सब प्रवृतियों की एक सूची तय्यार करो जिस से उन के आयु के भिन्न २ भागों में भिन्न २ प्रवृतियों का जागरण प्रकट हो।

यदि जेम्स के कथन को सत्य मान लिया जावे तो यह प्रश्न हमारे सन्मुख उपस्थित होता है कि मनुष्य के जीवन में स्वाभाविक प्रवृतियों का बाहुल्य होते हुए भी वे क्यों इतना न्यून भाग लेती हुई प्रतीत होती हैं? इस के उत्तर में दो सिद्धान्तों की ओर निर्देश करना उचित प्रतीत होता है।

(१) स्वाभाविक प्रवृतियों की क्षण-भंगुरता। इस का तात्पर्य्य यह है कि अपने २ समय पर प्रवृतियों का उदय होता है। यदि उस समय उचित क्रिया द्वारा वह विकसित न होने पावें तो या तो वे प्रसुप्त हो जाती हैं या विनष्ट।

(२) अभ्यास (आदत) द्वारा स्वाभाविक प्रवृति का निरोध। प्रत्येक क्रिया पुनरावृत्ति द्वारा अभ्यास में परिणत होना चाहती है। अभ्यास बन जाने पर उस का बदलना या तोड़ना कठिन हो जाता है। वे अभ्यास नयी प्रवृतियों का

निरोध करते हैं । उदाहरणार्थ-एक बच्चे के जीवन में एक समय पर मट्टी में खेलने की प्रवृति अवश्य उत्पन्न होती है। यदि माता परिस्थिति के परिवर्तन या सफ़ाई के अभ्यास द्वारा चाहे तो उस प्रवृति को शीघ्र रोक सकती है। व्यायाम की प्रवृति भी अपने समय पर जागृत होती है परन्तु यदि उस समय वह विरोधी अभ्यास के कारण रुक जावे तो पुनः प्रयत्न द्वारा भी उस का जागरण नहीं हो सकता।

इस सिद्धान्त के सार को समझ कर माता पिता को चाहिये कि वे उत्तम प्रवृतियों को विकसित होने से न रोकें। बच्चों में ऐसे अभ्यास उत्पन्न करें जो उन के विकास में सहायक हों न कि बाधक। जीवन का सच्चा शिक्षण इसी में रहता है कि उत्तम प्रवृतियां भली प्रकार विकसित हों और वह मानसिक तथा नैतिक जीवन में पूरा भाग लें।

स्वाभाविक प्रवृति का ऐच्छिक क्रिया में परिवर्तन

जब बच्चा प्रारम्भ में प्रतिक्रिया करता है तो उस के सुख प्रद होने पर उस का संस्कार पीछे रह जाता है। स्मृति उस का सुख चित्र बार बार सामने लाती है यहां तक कि उस सुख की प्राप्ति की "इच्छा" उत्पन्न हो जाती है। वह इच्छा प्रयोजन सिद्धि के लिये आवश्यक क्रियाओं को पैदा करती है। उन्हीं का नाम ऐच्छिक क्रिया होता है। ऐच्छिक क्रिया में दो अंश इच्छा और क्रिया रहते हैं। इच्छा सर्वदा किसी पदार्थ के लिये होती है

उस पदार्थ का अभाव हम अनुभव करते हैं। पदार्थ का मनोरञ्जक होना ही इच्छा का कारण बनता है। मनोरञ्जक और सुख प्रद होना एक ही बात होती है। इच्छा या तो उपस्थित दुःख को दूर करने के लिये होती है या अनुपस्थित सुख को लाने के लिये। प्रत्येक अवस्था में इच्छा सर्वदा सुख के लिये होती है। इच्छा में लक्ष्य प्राप्ति का भाव भी विद्यमान रहता है। यह भाव स्वाभाविक प्रवृति या विचार-शून्य क्रिया में नहीं रहता।

इच्छा और ध्यान

इच्छा में ध्यान शक्ति इतनी ओत प्रोत रहती है कि कई मनोवैज्ञानिकों को यह भ्रम हो जाता है कि इच्छा ध्यान शक्ति का ही रूपान्तर होती है। परन्तु यह बात सत्य नहीं। ध्यान इच्छा का एक प्रधान अंग है। परन्तु दोनों की स्वतन्त्र सत्ता का भेद किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—मान लो कि मुझे धन की एक राशि प्राप्त हुई है जिस को मैं जैसा चाहूं व्यय कर सकता हूं। इस निमित मैं अपने ध्यान की दौड़ लगाता हूं। विद्या वृद्धि की इच्छा मुझे अपने पुस्तकालय पर धन व्यय करने की प्रेरणा देती है। कला-प्रवृति मुझ को सुन्दर चित्र खरीदने का आदेश देती है। विदेश भ्रमण की इच्छा मुझे वह धन राशि विदेश यात्रा पर व्यय करने को कहती है। यहां पर ध्यान और इच्छा का स्वरूप प्रकट हो रहा है। परन्तु तीव्र इच्छा ही मेरे निर्णय का कारण बनेगी। यह भी हो सकता है कि मैं अपनी ध्यान शक्ति द्वारा इन में से किसी

लक्ष्य की इच्छा को अन्यों की अपेक्षा अधिक तीव्र बना लूं। ऐसी दशा में ध्यान इच्छा के प्राबल्य को बढ़ाने में सहायक होता है।

इच्छाओं का संघर्षण

जब कई लक्ष्य सन्मुख हों तथा तत् सम्बन्धी इच्छाओं का परस्पर संघर्षण हो तो हमें यह कैसे प्रतीत होता है कि कौन सा लक्ष्य स्वीकृत होगा? इस का उत्तर सीधा है। वही लक्ष्य स्वीकृत होगा जिस की प्राप्ति में अधिक सुख मिलने की आशा हो। इच्छा के निर्बल और सबल होने का कारण भी वही सुख होता है। अतः तीव्र इच्छा भी उसी पदार्थ के लिये होती है जिस में अधिक सुख की आशा हो। यदि मैं अपना प्राप्त धन गरीबों की सहायता में लगा देता हूं तो उस का भी यही प्रयोजन है कि मैं परोपकार कार्य्य में अन्य कार्य्यों की अपेक्षा अधिक सुख पाता हूं।

इच्छा और स्मृति

इच्छा में स्मृति का अंश मिलता है। जब मैं बाज़ार से गुज़रते समय सुन्दर सेब देखता हूं तो मेरे दिल में उसे खाने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। यह क्यों? सेब का चाक्षुष अनुभव कई संस्कारों को जागृत कर देता है। अपने मन में मैं सेब का खाना अनुभव करता हूं। यह स्मृति उसके पुनः खाने की इच्छा पैदा करती है। इस इच्छा का विश्लेषण करने पर हमें उसमें दो अंशों का समावेश मिलता है

(१) भावी सुख का भाव।

(२) उस भाव की पूर्ति के लिये ज्ञानात्मक प्रेरणा जो क्रिया में प्रकाशित होती है।

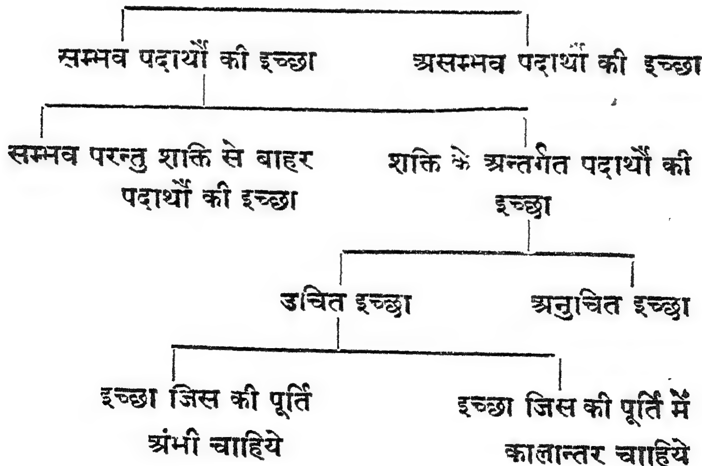
यहां पर यह स्मरण रखना चाहिये कि चेतना अपने स्वरूप में ही कर्मशील है। प्रत्येक आन्तरिक प्रेरणा क्रिया में प्रकट होती है यदि उसका निरोध किसी विरोधी प्रेरणा द्वारा न हो जावे तो। हकसले ने चेतना की तात्कालिक प्रेरणा का एक सुन्दर उदाहरण दिया है जो कई बार अभ्यासों की व्याख्या करते समय पेश किया जाता है। एक बार एक पेन्शन पाया हुआ सिपाही फलों का टोकरा उठाये हुए बाज़ार में जा रहा था, उसके एक मित्र को हंसी सूझी। उसने उसके पीछे जाकर ज़ोर से Attention (सावधान) कहा। तुरन्त उसके हाथों ने निश्चित रूप धारण कर लिया। हाथों से फल का टोकरा गिर पड़ा। फल कीचड़ में जा पड़े। सावधान शब्द सुनते ही प्रतिक्रिया का आविर्भाव हो गया। उसका सिपाहीपन्ना प्रकट हो गया।

शिक्षा का सब से बड़ा कार्य्य यह समझना चाहिये कि उसके द्वारा चेतना की तात्कालिक प्रेरणा का नियन्त्रण किया जाये। सुशिक्षित मनुष्य आन्तरिक प्रेरणा को नियमित रखता है। वर्तमान प्रेरणा को प्रायः उसे रोकना पड़ता है ताकि उत्तम लक्ष्य भावी में उस को प्राप्त हो। बालक जिनको प्रेरणा का

संयम प्राप्त नहीं होता वे सर्वदा निकट वर्ती प्रेरणा के ही आधीन रहते हैं। उनको सन्मुख उपस्थित पदार्थों का आकर्षण अधिक अनुभव होता है। एक बच्चा एक क्षुद्र पदार्थ को तत्काल लेना स्वीकार कर लेता है। परन्तु उसको एक उत्तम पदार्थ जो कुछ समय के पश्चात् मिलता है आकर्षित नहीं करता। "घर की आधी बाहर की सारी के बराबर होती है" इस लोकोक्ति में यही मनोवैज्ञानिक रहस्य प्रतीत होता है।

इच्छा के विभाग कई दृष्टियों से किये जा सकते हैं। हम यहां पर वह विभाग दर्शाते हैं जो क्रियात्मिक रूप से हमें लाभकारी प्रतीत होते हैं--

इच्छा के विभाग



जब हमारी इच्छा के लक्ष्य कई पदार्थ हों और हम ने उन में से एक का चुनाव करना हो तो हमें विचार शक्ति से कार्य लेना पड़ता है। जब मेरी छुट्टी निकट आती है तो मैं पर्वत यात्रा की इच्छा के सम्बन्ध में यह विचार करता हूं कि किस पर्वत पर जाऊं और कैसे समय व्यतीत करूं। जाने से पूर्व कई स्थानों का चिन्तन करता हूं। उन के गुण दोष का विवेचन करता हूं। प्रत्येक स्थान के व्यय को अपनी शक्ति और सामर्थ्य की दृष्टि से विचारता हूं। ऐसा भी हो सकता है कि इस प्रकार के बिचार का यह फल हो कि मैं अन्ततः पर्वत यात्रा का ख्याल ही छोड़ दूं।

इच्छा और विचार

विचार हमारे सामने विकल्प पेश करता है। विकल्प की स्वीकृति पर विचार क्रिया समाप्त होती है। निश्चय या चुनाव विकल्प की स्वीकृति का नाम है। निश्चय के लिये यह आवश्यक है कि एक से अधिक विकल्प उपस्थित हों। और वे विकल्प एक दूसरे से भिन्न हों। प्रत्येक ऐच्छिक क्रिया में हमें विकल्पों का सामना करना पड़ता है। कई बार ऐसा भी होता है कि अधिक विचार के बिना ही हम निश्चय पर पहुंच जाते हैं। यह निश्चय शीघ्रता का फल होते हैं, शीघ्रता से किये हुए निश्चय प्रायः पश्चाताप उत्पन्न करते हैं।

निश्चय या चुनाव

विना विचारे जो करे सो पाछे पछताय।
काम बिगाड़े अपना जग में होत हँसाय॥

इस लोकोक्ति के उदाहरण हमें मनुष्य जीवन में बहुधा मिलते हैं। कई बार विकल्पों पर विचार करते करते हम थक जाते हैं। निश्चय पर नहीं पहुंचने पाते। थक कर उपराम हो जाते हैं। उस उपरामता से भी कई बार हम निश्चय कर लेते हैं। यह निश्चय भी ऐसा ही घातक होता है जैसा कि शीघ्रता द्वारा प्राप्त निश्चय।

हम निरन्तर निश्चय करते रहते हैं। जब मैं आंख उठा कर अपनी खिड़की से बाहर दृष्टिपात करता हूं तो मेरे सामने निश्चय की आवश्यकता उपस्थित हो जाती है। मेरे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि मैं किस पदार्थ को देखूं। चलते मनुष्यों को, वृक्षों को, दूरवर्ती पर्वतों को या नदी नालों को, अन्ततः जिस पदार्थ को मैं देखने लगता हूं वह मेरे निश्चय या चुनाव का फल होता है। इस जीवन में प्रत्येक व्यक्ति अपने २ चुनाव के संसार में रहता है। मेरा चुनाव ही मुझ को दूसरों से भेद करता है। मेरे जीवन का अच्छा बुरा होना इसी चुनाव-प्रवृति का फल होता है।

चुनाव में स्वतन्त्रता

क्या हम निश्चय करने में स्वतन्त्र हैं? क्या विकल्पों के चुनाव में हम आज़ाद हैं? इस प्रश्न को दर्शन शास्त्र की परिभाषा में "इच्छा स्वा-तन्त्र्य" Freedom of Will के नाम से पुकारा गया है। यह अन्तिम सत्तावाद का प्रश्न है। मनोविज्ञान में इस को छेड़ना उचित प्रतीत नहीं होता। इस के पक्ष विपक्ष में युक्तियां देना

यहां पर हमें अभीष्ट नहीं। यहां केवल हम उतना ही कहना चाहते हैं जितना मनोविज्ञान का विद्यार्थी अपने अध्ययन के आधार पर कह सकता है। जब निश्चय या चुनाव करते समय हम अपनी चेतना का अवलोकन करते हैं तो हमें वहां पर यह भाव उपस्थित दीखता है कि जिस विकल्प का हम निश्चय करते हैं उस के अतिरिक्त दूसरे विकल्प को भी हम ग्रहण कर सकते थे यदि हम ऐसा करना चाहते। यह "कर सकने का भाव" तथा "वाधा का अभाव" ही हमारी स्वतन्त्रता का साक्षी है। इतिहास और साहित्य दोनों निश्चयों के उदाहरणों से भरे पड़े हैं। निश्चय अच्छा या बुरा दोनों प्रकार का होता है। उस के साथ उत्तरदातृत्व का भाव भी बंधा रहता है। यह उत्तर-दातृत्व का भाव भी हमारी स्वतन्त्रता का बोधक समझना चाहिये। "इच्छा स्वातन्त्र्य" को स्वीकार न करने पर हमें उत्तरदातृत्व के भाव को भी जवाब देना पड़ता है। ऐसा करने पर मनुष्य जीवन का महत्व जाता रहता है।

चरित्र और आचरण

जब हमारे निश्चय क्रिया-रूप धारण करते हैं तो हमारे आचरण में प्रकट होते हैं। चरित्र, आचरण का अन्तरीय रूप है। आचरण चरित्र का वाह्य प्रकाश है। आचरण (Conduct) कई मानसिक व्या-पारों के सम्मिलित रूप का फल होता है। जब हमारे मन में

कोई भाव या विचार उपस्थित होता है तो वह क्रिया में प्रकट होना चाहता है। क्रिया के बार २ होने पर अभ्यास (आदत) बनता है। हमारा आचरण हमारे अभ्यासों द्वारा प्रकट होता रहता है। अभ्यास हमारे जीवन में बड़ा भाग लेते हैं। उन की विस्तृत व्याख्या यहां पर विद्यार्थियों के लिये अत्यावश्यक प्रतीत होती है। मनोविज्ञान की प्रायः सब पुस्तकें इस व्याख्या पर ज़ोर देती हैं।

सोलहवां अध्याय

अभ्यास

अभ्यास के नियम सर्वत्र व्यापक हैं। प्रकृति के नियम जिन के अनुसार वह कार्य करती हैं वे भी एक प्रकार के अभ्यास ही हैं लोक में सर्वसाधारण मनुष्य "अभ्यास" से तात्पर्य आदत, स्वभाव, बान, लत्त, तथा रवत्त आदि नामों से लेते हैं। अभ्यास की व्यापकता को देखने से प्रतीत होता है कि मनुष्य जीवन सिवाय एक प्रकार के अभ्यासों के समूह के और कुछ भी नहीं।

अभ्यास की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

मनुष्य के अन्दर भिन्न २ प्रकार के अनेक विचार तथा भाव उत्पन्न होते रहते हैं। वे सब के सब कार्यरूप में परिणत होना चाहते हैं। जो अधिक प्रिय और रुचिकर होते हैं वे प्रथम कार्यरूप में परिणत होते हैं। क्रिया के बार बार होने से उस में से ऐच्छिक भाव निकल जाता है और उस में तात्कालिक प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है। इन तात्कालिक प्रेरक क्रियाओं को जो पुनरावृत्ति का फल हैं 'अभ्यास' कहते हैं। मानवी चरित्र इन्हीं अभ्यासों द्वारा बनता है।

अभ्यास अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के होते हैं यदि हमारे मन में निरन्तर अच्छे विचार उत्पन्न हों तो उन का फल अच्छे अभ्यास होंगे। और यदि हमारा मन बुरे भावों में विलीन रहेगा

तो निश्चयरूप से अभ्यास भी बुरे ही बनेंगे। हमारा मन इच्छाओं का एक केन्द्र है। उन की पूर्ति के लिये हमें प्रयत्न करना पड़ता है। हमारे अभ्यास हमारी इच्छाओं के चुनाव में भारी भाग लेते हैं।

अभ्यासों का शारीरिक आधार

संक्षेप से यदि वर्णन किया जावे तो हमारे नाड़ी-संस्थान के द्रव की संस्कारशीलता ही हमारे अभ्यासों का शारीरिक आधार है। कोमल पदार्थ ही सर्वदा प्रभाव को ग्रहण किया करते हैं। पुटीन (जिस से शीशे लगाए जाते हैं) पर ज़रासा ऊंगली का स्पर्श अपना प्रभाव छोड़ जाता है। एवं हमारे नाड़ी-संस्थान का द्रव उस से भी अधिक अपने अन्दर संस्कारशीलता रखता है। यह गुण सजीव पदार्थों में और भी अधिक पाया जाता है। सजीव द्रव जितना सूक्ष्म और कोमल होगा उतना अधिक इस गुण को प्रकाशित करेगा। हमारे मस्तिष्क का द्रव विशेषतया अपनी कोमलता के कारण संस्कारों को सञ्चित कर लेता है। यह संस्कार हमारे अभ्यासों का मूलाधार सिद्ध होते हैं।

जड जगत में संस्कार शीलता के दृष्टान्त

एक कठोर शिला पर बिन्दु २ पानी का गिरना शिला को घिसा देता है। एक नया वस्त्र अथवा जूता पांच सात वार पहिनने से हमारे शरीर पर ठीक बैठता है। एक वार तह किया हुआ कागज़ उस तह का निशान ग्रहण कर लेता है।

यदि पृथ्वी पर पानी को एक बार गिराएं तो पुनः पानी गिराने पर पहिली ओर ही जाएगा। पुराने बाजों की कीमत बढ़ जाती है क्योंकि वे अपने अन्दर बजाने के अभ्यास के संस्कार सञ्चित रखते हैं। मनुष्य के शरीर में जिस भाग को एक बार चोट लग चुकी हो, दुबारा उसी भाग को चोट आने का भय रहता है। पहिले मचकोड़ खाए स्थान पर पुनः मचकोड़ आने की सम्भावना होती है। इसी प्रकार जो प्रभाव हमारे मस्तिष्क में एक बार उपस्थित होते हैं वे अपना संस्कार वहां पर छोड़ जाते हैं। और फिर वही प्रभाव बार २ आ जा कर उन संस्कारों को दृढ़ कर देते हैं। और वे दृढ़ संस्कार ही हमारे अभ्यासों का मूल कारण बनते हैं।

अभ्यासों के सहायक

अभ्यासों के बनने में पहिला सहायक पैतृक संस्कार (Heredity) है। प्रायः बच्चों के अभ्यास उन के माता पिता के अभ्यासों के अनुसार ही बनते हैं। अनुकरण ऐसे अभ्यासों के बनाने में सहायता देता है। द्वितीय सहायक परिस्थिति (Environment) है। लोक जैसी परिस्थिति में रहते हैं तदनुसार अपने अभ्यास बना लेते हैं। अच्छी परिस्थिति में अच्छे अभ्यास, और बुरी परिस्थिति में बुरे अभ्यास पैदा होते हैं। तृतीय सहायक कृति-शक्ति, प्रयत्न (Will) समझनी चाहिये, यह शक्ति इतनी प्रबल हो

सकती है कि इस के द्वारा मनुष्य पैतृक संस्कारों और परि-स्थिति को भी जीत सकता है।

अभ्यासों की क्रियात्मक उपयोगिता

हम पहिले कह चुके हैं कि हमारा सम्पूर्ण जीवन अभ्यासों का समूह है। हमारा सोना जागना खाना पीना उठना बैठना इत्यादि सब हमारे अभ्यासों के आधीन रहते हैं। हमारे जीवन में ऐसे कर्म विरले ही मिलते हैं। जो अभ्यासों के पाश से बाहिर हों। इस प्रकार विचारने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यदि हमारे जीवन की क्रियात्मक सहायता में अभ्यास का सिद्धान्त काम न करता तो हमें बड़ी कठिनता होती। यदि एक कार्य बार २ करने पर भी सुगम और सरल न होता तो क्या ही भयानक परिणाम होता। उदाहरणार्थ—जब हम ने लिखना सीखा था, उस समय जितना समय, शक्ति, सावधानी का व्यय हम को करना पड़ा यदि उतना ही इस समय करना पड़े तो हमारे लिखने की क्या गति हो। कलम पकड़ने में यदि उतनी ही कठिनता हो जितनी कि आरम्भ में, धोती आदि वस्त्रों के पहिरने में यदि उतना ही समय लगे जितना बचपन में, तो हमारी क्या दशा हो। हमारे दिन भर का जीवन केवल दो चार क्रियाओं के करने में ही समाप्त हो जाए। तनिक बच्चे की अवस्था को अपने सामने लाईये, उस को खड़ा करने और

चलाने में कितनी अड़चन का सामना करना पड़ता है, यदि अभ्यास का सिद्धान्त उस की सहायता न करता तो वह खड़ा होना और चलना कदापि न सीख सकता। क्योंकि प्रत्येक बार खड़ा होने और चलने में उस को वैसी ही कठिनता प्रतीत होती।

अभ्यास के लाभ

१-अभ्यास द्वारा हमारी क्रियाएं सरल तथा नियमित बनती हैं। २-अभ्यास द्वारा हम थकावट तथा अधिक प्रयत्न से बचते हैं। ३-अभ्यास द्वारा हम अपने साधारण कार्य्यों में ध्यान-शक्ति का व्यय कम करते हैं। उनसे उसको बचाकर अन्य आवश्यक कार्य्यों में लगाते हैं।

इन उपरोक्त लाभों से यह स्पष्ट विदित है कि अभ्यास की क्रियात्मिक उपयोगिता बहुत अधिक है। हमारा जीवन तथा हमारी शक्ति परिमित है। एक मनुष्य अपनी अल्पकालिक आयु में अपनी अल्प शक्ति से क्या २ कर सकता है? अतः बहुत से कामों को वह अभ्यासों में परिणत कर लेता है इस प्रकार अपनी शक्ति और समय को बचा लेता है।

शिक्षा और अभ्यास

एक मनुष्य ने चाहे कितनी शिक्षा प्राप्त की हो कितना ज्ञान उपलब्ध किया हो परन्तु यदि उसने उत्तम अभ्यासों का उपार्जन नहीं किया और उसकी मनोवृत्तियां नियमित नहीं हुईं तो निःसन्देह कहा जा सकता

है कि उसकी पूर्णतया शिक्षा हुई ही नहीं। अतः मनुष्य की मनोवृत्तियों को नियमित करना, उसके व्यवहार का शिक्षण तथा उत्तम अभ्यासों का अवलम्बन ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य समझना चाहिये। इन के विना शिक्षा अधूरी रहती है।

किसी समाज में जितनी सुव्यवस्था दीखती है वह सब उसके सदस्यों के अभ्यासों पर ही अवलम्बित रहती है। भिन्न २ व्यवसायों में लगे हुए व्यक्ति अपने निश्चित कार्यों को इसी लिये नहीं छोड़ते कि अभ्यासों की ज़ंजीरें उनके गले में पड़ी हुई हैं। एक भङ्गी प्रति दिन अपने कार्य को लग्न द्वारा इसी लिये करता है कि अभ्यास उसको उसमें बान्धे हुए है। विद्यार्थी, अध्यापक, दुकानदार, वकील, क्लर्क, डाक्टर इत्यादि सब श्रमजीवी अभ्यास के चक्र में चल रहे हैं। यदि समाज के जीवन से अभ्यास के तन्तु निकाल दिये जाएं तो वह अस्त व्यस्त हो जाए।

महात्माओं के सफल-मनोरथ जीवन उनसे उत्तम अभ्यासों का ही परिणाम होते हैं। निस्सन्देह अभ्यासों द्वारा ही हमारे भाग्यों का निर्णय होता है। अपनी शिक्षा में मनुष्य को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिये कि उसका नाड़ी-संस्थान सर्वदा उसका सहायक हो, शत्रु न हो। यह तभी हो सकता है जब कि अनुकूल अभ्यास डाले जाएं। अत्याचार

को देखकर, दुःखी के दुःख को अनुभव करके यदि हमारा शरीर उसकी सहायता के लिये यत्न करता है तो वह निश्चय से हमारा सहायक है। अतः अच्छी बातें हमारे लिये एक ऐसी पूंजी हैं जिसके सूद पर हमारा निर्वाह होता है। शिक्षा का आदर्श यही है कि बालकों के जीवन में उत्तम तथा उपयोगी अभ्यासों का उपार्जन कराया जाए।

नये अभ्यासों के उपार्जन के नियम

पहिला आदेश—किसी पुराने अभ्यास को छोड़ने और नये अभ्यास के डालने के लिये हमारा पहिला प्रयत्न अत्यन्त निश्चयात्मक, दृढ़ तथा बल पूर्वक होना चाहिये। अपनी परिस्थिति सर्वथा उस प्रयत्न के अनुकूल बनानी चाहिये। अपने पूरे बल तथा विश्वास से नये मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये। यदि आवश्यक हो तो जनता के सन्मुख प्रतिज्ञा (Public Pledge) लेने के लिये उद्यत रहना चाहिये, ताकि अपने संकल्प से पीछे हटने के लिये कोई अवसर या बहाना न रहे।

द्वितीय आदेश—जब तक नया अभ्यास हमारे जीवन में पूर्णतया स्थिति न पकड़ लेवे तब तक किसी भी "अपवाद" को बीच में न आने दो प्रत्येक ढील वा नाग़ा पूर्व के सब किये कराये को नष्ट कर देता है अतः पुराने अभ्यास के साथ सदा युद्ध करने को उद्यत रहना चाहिये। बुरे अभ्यास की ज़रा

सी जीत भी हमारी सफलता के लिये घातक सिद्ध होती है अतः नूतन अभ्यास के लिये निरन्तर यत्न अपेक्षित है। तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः। योग के इस सूत्र के अनुसार एक चीज़ की स्थिति रखने में प्रयत्न करना अभ्यास कहलाता है।

तृतीय आदेश-जो संकल्प करो, उसे क्रिया में लाने का सब से प्रथम अवसर हाथ से न जाने दो। अर्थात् जब किसी अच्छे कर्म की आकांक्षा मन में पैदा हो तो उसे तुरन्त कार्य में लाने का प्रयत्न करो। हमारे संकल्प कितने ही अच्छे क्यों न हों, हमारी आकांक्षाएं कितनी ही शुद्ध क्यों न हों, हमारे पास उत्तम २ उपदेशों का संग्रह क्यों न हो परन्तु स्मरण रक्खो कि यह सब कुछ व्यर्थ है जब तक कि हम उन को अपने आचरण में नहीं लाते। वे उच्च आदर्श, वे उच्च संकल्प, वे उत्तम उपदेश जब तक कर्मों में नहीं आते, जब तक हमारे चरित्र में चरितार्थ नहीं होते तब तक वे हमारे जीवन के लिये लाभकारी सिद्ध नहीं होते। चरित्र तो नाम ही घटे हुए अथवा मञ्जे हुए संकल्पों का है (Character is completely fashioned will)।

चतुर्थ आदेश--प्रति दिन उत्तम अभ्यासों की शक्ति को जागृत करने के लिये थोड़ा बहुत आयास करते रहना चाहिये।

इस का फल यह होता है कि समय आने पर बड़े २ मनोरथ अपने आप सिद्ध हो जाते हैं। एक व्यक्ति जो प्रति दिन थोड़ा बहुत व्यायाम करता रहता है वह अन्त में सुगठित शरीर और स्वास्थ्य को पा लेता है। जिस प्रकार एक मल्ल प्रति दिन अपने शरीर के संघर्षण को आवश्यक समझता है उसी प्रकार उत्तम चरित्र के प्राप्त करने के लिये भी प्रति दिन का न्यूनाधिक उत्तम आचरण आवश्यक है। जिस प्रकार सोये २ कोई व्यक्ति मल्ल नहीं बन जाता उसी प्रकार सोए २ कोई मनुष्य ऋषि मुनि की पदवी नहीं पा सकता। दोनों अवस्थाओं की प्राप्ति के लिये प्रति दिन का निरन्तर प्रयत्न अपेक्षित होता है। उदाहरणार्थ-यदि हम त्याग का अभ्यास करना चाहें तो हमें उचित है कि नित्य प्रति कोई न कोई त्याग का कार्य करना चाहिये। इसी प्रकार सत्य बोलने तथा परोपकार के लिये यदि कोई नित्य प्रति अभ्यास करता है तो समय आने पर बड़े २ प्रलोभनों से बच जाता है।

नोट—अध्यापक के लिये आवश्यक है कि उपरोक्त चारों आदेशों अथवा नियमों को समझाने के लिये बहुत से सरल उदाहरणों को विद्यार्थियों के सन्मुख उपस्थित करे। हम ने स्थानाभाव के कारण स्वयं उदाहरण नहीं दिये परन्तु बिना उदाहरण के विद्यार्थियों के मन में इन आदेशों की स्थिति कठिन होगी।

अभ्यास और ब्रह्मचर्यावस्था

पहिले कहा जा चुका है कि हमारा चरित्र हमारे अभ्यासों का फल स्वरूप है। सफल जीवन उत्तम अभ्यासों का ही परिणाम है यही अभ्यास ही मिलकर हमारे सुख दुःख का कारण बनते हैं। हमारी प्रारब्ध का निर्णय हमारे अभ्यासों के ही हाथ रहता है। अतः उत्तम अभ्यासों के बनाने में मनुष्य को सर्वदा कटिबद्ध रहना चाहिये। स्मरण रखो कि अभ्यासों के ग्रहण का समय तब तक ही है जब तक कि हमारे नाड़ी-संस्थान की अवस्था मृदु और कोमल है और उस में संस्कार ग्रहण करने की शक्ति विद्यमान है। यह दशा पच्चीस वर्ष की आयु तक भली प्रकार मिलती है इस समय मनुष्य अपने मन और शरीर को जैसे साधना चाहे साध सकता है। मन और शरीर की संस्कृति आयु के इसी भाग में ही प्राप्त हो सकती है। उत्तम अभ्यासों के उपार्जन का सब से उत्तम अवसर ब्रह्मचर्य काल ही है। हमारे शास्त्रों ने ब्रह्मचर्य की बड़ी महिमा गायन की है और वह इसी लिये कि यह काल सारे जीवन की तैयारी के लिये नियत किया गया है। भावी जीवन के भवन को इसी ब्रह्मचर्य की नीव पर खड़ा किया जाता है अतः विद्यार्थियों को चाहिये कि सावधानहो कर सदैव ब्रह्मचर्याश्रम को पालन करें और अपने एक २ कर्म और भाव का पूरे तौर पर निरीक्षण कर के उन को सच्चरित्र की शृङ्खला में बान्धें। आलस्य और प्रमाद के

वश होकर क्षण भर के लिये भी इस अवस्था में असावधान न होना चाहिये।

अभ्यासों का बाल्यावस्था के साथ बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, इस अवस्था में उत्तम अभ्यासों का उपार्जन सहज और सुगम होता है। किसी विद्यार्थी को यह न सोचना चाहिये कि उत्तम चरित्र को ग्रहण करना बुढ़ापे के लिये होता है। युवावस्था में इस की सब से अधिक आवश्यकता होती है। इसी अवस्था में चरित्र की नींव डालो और इस के भवन को परिपूर्ण करो। जो संस्कार ब्रह्मचर्यावस्था में डाले जाते हैं वे मरण पर्यन्त हमारे साथ रहते हैं।

सतरह्वां अध्याय

मनोविज्ञान के आधुनिक प्रयोग

(Applications)

इस अन्तिम अध्याय में हम केवल यह निर्देश करना चाहते हैं कि जिस विज्ञान का हम ने इस पुस्तक द्वारा अध्ययन किया है उस का वर्तमान संसार क्या प्रयोग कर रहा है और उस से कितना लाभ उठा रहा है ? प्रत्येक विज्ञान की सार्थकता इसी में है कि वह मनुष्य जाति की किसी न किसी अंश में उन्नति का साधन बने। इस बात को लक्ष्य में रख कर जब हम मनो-विज्ञानशास्त्र पर दृष्टिपात करते हैं तो इस की सफलता आश्च-र्यजनक प्रतीत होती है। इस शास्त्र ने अनेकविध मनुष्य जाति की सहायता की है और उस की उन्नति के साधनों को बढ़ाया है। अन्य विज्ञान इस के कितने आभारी हैं यह बात हम पुस्तक के आरम्भ में ही दिखा चुके हैं। उस को यहां पर न दुहराते हुए हम केवल कतिपय मोटी २ बातों का उल्लेख करते हैं जिन में मनोविज्ञान का विश्वव्यापी प्रभाव प्रकट होता है।

मनुष्य "मन" और "शरीर" दोनों का मिलाप है। मन की साधना वह शिक्षा द्वारा करता है और शरीर की साधना चिकित्सा द्वारा। शिक्षा और चिकित्सा दोनों पर आज मनो-

विज्ञान अपना गहरा प्रभाव डाल रहा है। शिक्षा-मनोविज्ञान (Educational Psychology) सभ्य संसार की शिक्षा-प्रणालियों को प्रभावित कर रहा है। मनोविज्ञान के पण्डित अपने अध्ययन से शिक्षा को सरस, सजीव तथा सुलभ बनाने में बड़ी सहायता दे रहे हैं। मनोविज्ञान के मूल सिद्धान्तों को बाल-शिक्षण में लगाया जा रहा है। उस से अनेक सुविधायें उत्पन्न हो रही हैं। मान्टीसूरी विधि (Montessori system of education) का आधार भी मनोविज्ञान ही है। मनोविज्ञान का परीक्षणमूलक भाग (Experimental Psychology) इस खोज में रहता है कि वह कौन से उपाय हैं जिन के अवलम्बन द्वारा बच्चों के ध्यान, स्मृति, कल्पना, इच्छादि का संयमन तथा विकास भली प्रकार किया जा सके। नैतिक मनोविज्ञान (Moral Psychology) बच्चों के चरित्रसंगठन के सिद्धान्त उपस्थित करता है। चरित्र का स्वरूप समझ लेने पर उस का उपार्जन सुलभ हो जाता है। चरित्र शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। अतः इस की प्राप्ति के लिये भी मनोविज्ञान पूर्ण सहायता दे रहा है।

मानस चिकित्सा (Psycho-Therapy) आज कल शरीर की साधना में पूरा सहयोग दे रही है। मनोविज्ञान के अध्ययन ने हमें इस योग्य बना दिया है कि मन को शरीर का स्वामी बना

कर उस की उन शक्तियों से कार्य्य लें जो शरीर के रोगों की निवृत्ति में सहायक सिद्ध होती हैं। मानस चिकित्सा का आधार इन दो स्थापनाओं पर है (*i*) मन और शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध है। (*ii*) मन शरीर के रोगों को उत्पन्न करता है और उन रोगों को दूर भी कर सकता है।

इन के आधार पर मानस-चिकित्सा ने अपनी कल्पनाओं को स्थिर किया है और जो सफलता इस को अपने लक्ष्य में हो रही है उस को देख कर कोई यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि मानस-चिकित्सा विज्ञान में अपनी स्थिति नहीं रखती। इस को गौरव का स्थान प्राप्त हो चुका है। मानस-चिकित्सा के पण्डितों ने मनोविज्ञान से पूरी २ सहायता ले कर उस के सिद्धान्तों को अपने कार्य्य में लगाया है।

लिङ्गविषयक मनोविज्ञान (Sexology) ने अपना स्वतन्त्र क्षेत्र निर्माण किया है। इस विज्ञान ने स्त्री पुरुष की विशेषता और सामानता की खोज की है। आज सभ्य संसार में स्त्रियों को जो ऊंचा स्थान मिल रहा है और उन की दासता की ज़ंजीरें टूट रही हैं उस में मनोविज्ञान के इस विभाग के अध्ययन ने पर्याप्त सहायता दी है। साथ ही हमें यह आशा है कि इस विज्ञान के गम्भीर अवलोकन से पाश्चात्य संसार में जो स्त्री पुरुष के बीच में स्पर्द्धा की बाढ़ (Competition) उमड़ रही

है वह शीघ्र दूर हो जावेगी और उस के स्थान में सहायता और मिल-वर्त्तन (Co-operation) का प्रवाह जारी हो जावेगा। स्त्री पुरुष एक दूसरे की सहायता के लिये उत्पन्न हुए हैं न कि स्पर्द्धा और मुकाबले के लिये।

जातीय मनोविज्ञान (Race Psychology) भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापना कर रहा है। जातियों के जीवन व्यवहार, उन के साहित्य का अवलोकन, उन की रीति नीति तथा संस्कृति (Culture) का आन्दोलन, इन्हीं के आधार पर जातीय मनोविज्ञान की नींव पड़ती है। इस का अध्ययन मनुष्य जाति के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हो रहा है क्योंकि भिन्न जातियां इस की सहायता से एक दूसरे को भली प्रकार समझ सकती हैं। जातीय मनोविज्ञान के अन्तर्गत समुदाय मनोविज्ञान (Crowd Psychology) भी आ जाता है। इस के द्वारा छोटे २ समुदायों की रचना, धड़े बंदी, संगठन तथा नेताओं का उत्पन्न होना। जनता को पीछे लगाना तथा अन्य समाज सम्बन्धी गौण क्रियाओं आदि का निरूपण किया जाता है। उस का अध्ययन भी बड़ा शिक्षा प्रद होता है।

मनोविज्ञान का सब से बड़ा उपयोग आज कल का सभ्य संसार व्यवसाय की वृद्धि तथा उस की उन्नति में ले रहा है। व्यवसाय मनोविज्ञान (Industrail Psychology) एक

उन्नत शास्त्र बन रहा है। मनोविज्ञान के इस विभाग का कार्य मनुष्य की उन प्रवृत्तियों का विचार करना है जो उस को व्यवसाय में लगातीं तथा उस को विकसित करती हैं। व्यवसाय के लिये यह आवश्यक है कि नई इच्छायें उत्पन्न की जायं। लोकों में पदार्थों की मांग उत्पन्न की जाये। इस के निमित्त विज्ञापन का देना अभीष्ठ होता है। विज्ञापन देना भी मनोविज्ञान की सहायता बिना नहीं हो सकता। विज्ञापन की मनोवैज्ञानिक विधि (Psychology of Advertisement) पर आज अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। व्यवसाय वृद्धि का एक और उपाय व्यवसाय संगठन (Organization of Industry) है। उस के लिये भी संगठन के मूल अंशों को समझना पड़ता है। वे मूल अंश वस्तुतः मनोवैज्ञानिक ही होते हैं। व्यक्तियों का एक स्थान पर मिल कर कार्य्य करने की प्रेरणा अपने स्वार्थ सिद्धि के कारण ही होती है। इस स्वार्थ को संगठित करना ही व्यवसाय संगठन का मूल मंत्र है। यह तभी हो सकता है जब कि हम संगठन के मनोवैज्ञानिक आधार (Psychology of Organization and Management) को भली प्रकार विचारें और समझें। आज कल बड़े पैमाने पर व्यवसाय चलाने के लिये श्रम-संगठन एक आवश्यक साधन है। यह श्रम-संगठन नहीं हो सकता जब तक हम श्रमियों की मानसिक

प्रवृत्तियों तथा उन के स्वार्थों का पूरा पूरा अवलोकन नहीं करते।

उपरोक्त प्रयोगों द्वारा विदित होता है कि मनोविज्ञान का कितना विस्तृत प्रभाव है और मनुष्य जीवन के भिन्न २ विभागों में यह कितना भाग ले रहा है। इसको दृष्टि में रखते हुए इस शास्त्र के अध्ययन और अध्यापन की आवश्यकता और महत्व दोनों बढ़ जाते हैं। इसी अनुभव के आधार पर यह पृष्ठ लिखे गये हैं॥

॥ समाप्त ॥

लाला मोतीराम मैनेजर के अधिकार से मुफ़ीद-आम प्रेस
लाहौर में छपी।

लेखक की

अन्य पुस्तकें

अमीरी व गरीबी—इस पुस्तक में अपनी सभ्यता की दृष्टि से अर्थ शास्त्र की इस जटिल समस्या की विवेचना की गई है। प्रत्येक व्यक्ति स्त्री और पुरुष गरीबी को दूर करने के लिये क्या कुछ कर सकता है, इस पर प्रकाश डाला गया है। मूल्य ॥)

सुख-सागर—प्रति दिन के स्मरण तथा पाठ के लिये विचार तरङ्गों का एक संग्रह। यह पुस्तक पाठकों को उभारने तथा उत्कृष्ट बनाने के लिये लिखी गई है।

चरित्र-दर्शन—इस पुस्तक के पाठ से बच्चों में चरित्र प्रेम उत्पन्न होगा तथा अध्यापकों को चरित्र-शिक्षण के कार्य में सहायता मिलेगी।

बाल-शिक्षण—यह पुस्तक मनोविज्ञान के आधार पर लिखी गई है। इस की सहायता से प्रत्येक माता पिता अपने बच्चों का शिक्षण उत्तम रीति से कर सकते हैं। ऐसी पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता थी।

दयानन्द शिक्षा-दिग्दर्शन—यह पुस्तक आंगल भाषा में कतिपय विद्वानों के लेखों का संग्रह है। इस के द्वारा ऋषि दयानन्द की शिक्षा तथा महत्व दर्शाया गया है।

"यशका"—एक रूसी जाट कन्या की यह एक अपूर्व और सच्ची जीवन कथा है, जो गत यूरोपीय युद्ध में अपने देश के शत्रुओं से लड़ती रही। इस कथा के पाठ से रोमांच हो आता है। लेखक के एक मित्र ने इसे अपने देश के नवयुवकों और नवयुवतियों के लिये तैयार किया है।

नववधू संदेश—यह पुस्तक भी नई ब्याही लड़कियों के लिये अपूर्व गौरव की पुस्तक सिद्ध होगी।

मिलने का पता— 

१—इंडियन प्रिन्टिंग वर्क्स चौक ग्वालमंडी लाहौर।

२—आर्य्य पुस्तकालय, वा सरस्वती आश्रम लाहौर।